

शिशिर कुमार मित्रा

(1889-1963)

शिशिर कुमार मित्रा ने भारत में रेडियो विज्ञान की नींव रखी। आयन-मण्डल (ionosphere) पर शोधकार्य के लिए भी वे जाने जाते हैं।

शिशिर कुमार का जन्म 24 अक्टूबर 1889 को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता जयकृष्ण एक विद्यालय में शिक्षक थे और माँ शरतकुमारी चिकित्सक थीं। जयकृष्ण ने परिवार की रजामन्दी के बिना शरतकुमारी से विवाह किया था। इसलिए उन्हें घर छोड़ना पड़ा और पारिवारिक सम्पत्ति में कोई हिस्सा भी न मिला। शिशिर के जन्म के समय उनकी माँ कैम्पबेल मेडिकल स्कूल की छात्रा थीं। 1909 में शरतकुमारी को लेडी डफरिन अस्पताल में नौकरी मिली और जयकृष्ण को भागलपुर नगर पालिका में क्लर्क की नौकरी मिली। शिशिर की प्रारम्भिक पढ़ाई भागलपुर जिला विद्यालय में हुई और उसके बाद वे टी.एन.जे. कॉलेज में पढ़े। नौ बरस की उम्र में उन्होंने गर्म हवा का एक गुब्बारा देखा। इसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हें आगे विज्ञान पढ़ने की प्रेरणा मिली। ललित कला (फाइन आर्ट्स) की परीक्षा से ठीक पहले उनके पिता का देहान्त



हो गया। उससे परिवार पर बड़ा संकट आया, परन्तु शिशिर की माँ ने बहुत हिम्मत और धैर्य से शिशिर का लालन-पालन किया।

आर्थिक समस्याओं के बावजूद शिशिर की माँ ने उन्हें कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज से बी.एससी. करने के लिए प्रोत्साहित किया। खुशकिस्मती से यहाँ उन्हें दो महान वैज्ञानिक शिक्षक के रूप में मिले। ये थे जगदीश चन्द्र बोस और प्रफुल्ल चन्द्र रे। शिशिर ने जब बोस द्वारा निर्मित कम लागत के उपकरणों को देखा तो वे उनकी ओर बहुत आकर्षित हुए और उन्होंने शिक्षण और शोध का पेशा अपनाने का निश्चय किया। प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान अर्जित कर 1912 में उन्होंने एम.एससी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय के लिए उन्होंने बोस के साथ शोधकार्य किया; परन्तु परिवार चलाने के लिए उन्हें तुरन्त एक नौकरी की ज़रूरत थी। इसलिए उन्होंने शुरुआत में कुछ सालों तक भागलपुर के टी.एन.जे. कॉलेज और फिर बांकुड़ा क्रिश्चियन कॉलेज में अध्यापन किया। 1914 में उनका विवाह लीलावती देवी से हुआ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप-कुलपति आशुतोष मुखर्जी उन दिनों विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षण एवं शोध शुरू करने के लिए प्रयासरत थे। 1916 में वे यूनिवर्सिटी साइंस कॉलेज स्थापित करने में सफल हुए और वहाँ उन्होंने मित्रा समेत अनेक प्रतिभावान विद्वानों को भौतिकी विभाग में काम करने के लिए आमंत्रित किया। इन दिग्गजों की सूची में सी.वी. रामन, सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा भी शामिल थे। मित्रा ने रामन के मार्गदर्शन में प्रकाश के व्यतिकरण (interference) और विवर्तन (diffraction) पर शोध शुरू किया। केवल तीन सालों में ही उन्होंने अपना शोधग्रन्थ पूरा किया और 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी.एससी. की डिग्री प्राप्त की।

उसके तुरन्त बाद वे उच्च स्तरीय अनुसन्धान करने के लिए विदेश गए। शुरु में उन्होंने चार्ल्स फ़ॉब्री के साथ पेरिस के सोरबॉन विश्वविद्यालय में काम किया और 1923 में डी.एससी. की दूसरी डिग्री हासिल की। उसके बाद उन्होंने मादाम क्यूरी के साथ रेडियम इंस्टिट्यूट में काम किया। कुछ अवधि के लिए उन्होंने नैसी विश्वविद्यालय के इंस्टिट्यूट ऑफ़ फिज़िक्स

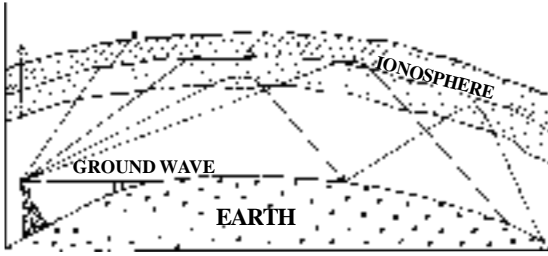
में प्रो. गटन के साथ काम किया। यहाँ पर मित्रा की रुचि रेडियो तरंगों और उनके उपयोग में जगी। उन्होंने भविष्य में नए उभरते रेडियो शोध के क्षेत्र में काम करने की ठानी। तब तक यह विषय किसी भी



भारतीय विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था, इसलिए उन्होंने आशुतोष मुखर्जी से 'वायरलैस' (बेतार) विषय को एम.एससी. के पाठ्यक्रम में शामिल करने का आग्रह किया और साथ ही प्रायोगिक कार्य करने हेतु एक प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए भी कहा।

आशुतोष मुखर्जी ने मित्रा के प्रस्ताव का स्वागत किया और उनसे भारत वापस लौटकर इस पर विस्तार से काम करने का अनुरोध किया। 1923 में स्वदेश लौटने के बाद मित्रा ने खैरा प्रोफेसर ऑफ फिज़िक्स के पद पर काम किया। इस प्रकार भारत में रेडियो इलेक्ट्रॉनिकी शोध का सूत्रपात हुआ - शिक्षण, शोधकार्य और प्रयोगशालाओं की स्थापना पर तेज़ी से काम शुरू हुआ। जल्द ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विश्वस्तरीय रेडियो शोध केन्द्र विकसित हुआ जो आज इंस्टिट्यूट ऑफ रेडियो फिज़िक्स एंड इलेक्ट्रॉनिक्स (Institute of Radio Physics and Electronics) के नाम से जाना जाता है।

रेडियो का असली विज्ञान तो आयन-मण्डल की खोज के बाद ही शुरू हुआ। मित्रा ने आयन-मण्डल का गहन अध्ययन किया, जो लम्बी दूरी के रेडियो सम्प्रेषण के लिए बेहद ज़रूरी है। यह वातावरण के ऊपरी वायुमण्डल का वह क्षेत्र है जो लघु रेडियो तरंगों को परावर्तित करता है और इसी वजह से पृथ्वी की वक्र सतह पर सम्प्रेषण सम्भव हो पाता है। इण्डियन स्पेस ब्रॉडकास्टिंग सर्विस (Indian Space Broadcasting Service)



के कलकत्ता केन्द्र के मध्यम तरंग ट्रांसमीटर का उपयोग कर मित्रा ने पहली बार आयन-मण्डल में स्थित 'ई-क्षेत्र' के

प्रमाण जुटाए। मित्रा के अनुसार रात के आकाश में दिखने वाली दीप्ति का कारण एफ-क्षेत्र में स्थित आयन हैं। इस प्रकाश के कारण ही रात का आकाश स्याह-काला न दिखकर थोड़ा मटमैला दिखता है। उन्होंने कलकत्ता के ऊपर स्थित आयन-मण्डल की परतों का अध्ययन कर कई शोधपत्र लिखे। उन्होंने सरल उपकरणों का उपयोग कर आयन-मण्डल के उत्कृष्ट नक्शे बनाए। उस ज़माने में आयन-मण्डलीय रसायन विज्ञान शैशवावस्था में था, इसके बावजूद मित्रा ने ओज़ोन के निर्माण और उसके क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन किया।

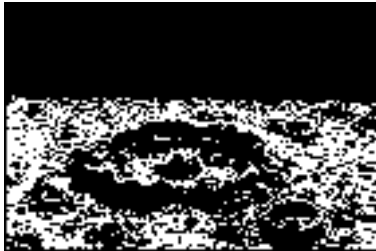
मित्रा ने आयन-मण्डल पर एक अनूठी पुस्तक लिखी - *द अपर एटमोस्फियर (The Upper Atmosphere)*। विदेशी प्रकाशक इस पुस्तक को छापने से कतराते रहे क्योंकि उन्हें लगा कि यह किताब पहले से स्थापित विदेशी पुस्तकों के साथ प्रतिस्पर्धा करेगी। पर जब 1947 में इस पुस्तक को एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया तो उसकी 2000 प्रतियाँ केवल तीन वर्ष में बिक गईं। रेडियो संचार, आयन-मण्डल, उच्च वायुमण्डल भौतिकी, भू-चुम्बकत्व और अन्तरिक्ष विज्ञान के छात्रों की कई पीढ़ियों ने प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में इस पुस्तक का उपयोग किया है। मित्रा ने एक नई पहल करते हुए आयन-मण्डल को एक विशाल परिदृश्य का हिस्सा माना था जो पृथ्वी, सूर्य और वायुमण्डल को एक-दूसरे के साथ जोड़ता है।

1955 में उनकी पुस्तक का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। जब 1957 में स्पूतनिक-1 का प्रक्षेपण हुआ तब सोवियत वैज्ञानिकों को उपग्रहों के जीवनकाल का अनुमान लगाने के लिए मित्रा की पुस्तक *द अपर एटमोस्फियर* में ही वातावरण के सबसे उपयुक्त नमूने मिले।

विश्वविद्यालय से नवम्बर 1955 में सेवानिवृत्ति के बाद मित्रा वहाँ अवकाशप्राप्त प्राध्यापक की हैसियत से काम करते रहे। बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री बिधान चन्द्र राय के आग्रह पर उन्होंने पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक शिक्षा मण्डल को पुनर्गठित किया और उसे एक कुशल और अनुशासित संगठन का रूप दिया। शिक्षा मण्डल का बौद्धिक काम सम्हालते हुए भी उन्होंने अपना शोधकार्य और संस्थान की देखभाल जारी रखी। मित्रा ने अनेक कुशल वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित किया, जिन्होंने बाद में पथप्रदर्शक कार्य किया। इनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं - प्रो. ए.पी. मित्रा, सिग्नस-ए (CYGNUS-A) नामक दोहरी रेडियो आकाशगंगा के खोजकर्ता एम.के. दासगुप्ता (रेडियो खगोल विज्ञानी) और प्रो. जे.एन. भार।

पत्नी और बड़े पुत्र डॉ. अशोक मित्रा के असामयिक निधन के कारण मित्रा का पारिवारिक जीवन दुखी रहा। पुत्र के निधन से उन्हें गहरा धक्का लगा। किन्तु उसके तुरन्त बाद उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। उन्हें सरकार ने राष्ट्रीय प्राध्यापक भी बनाया। वे अपना ज्यादातर समय घर पर ही लिखते-पढ़ते हुए गुज़ारते। हर शाम वे अपने घर के पास स्थित क्लब में मनोरंजन के लिए जाते और कभी-कभी वहाँ शतरंज की एक-दो बाज़ी भी खेलते।

शिशिर कुमार मित्रा को और भी बहुत से सम्मान मिले, जिनमें प्रमुख हैं: भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का अध्यक्ष पद (1959-60) और पद्म भूषण (1962)। कुछ दिन बीमार रहने के बाद 13 अगस्त 1963 को उनका देहान्त हुआ। उनकी स्मृति को अमर बनाने के लिए एक चन्द्र-विवर का नाम 'मित्रा' रखा गया है।

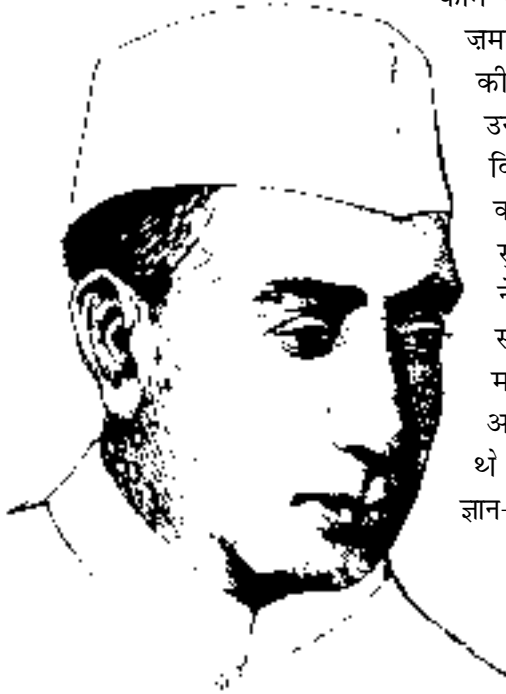




किसी नए जीवाश्म की खोज जीवन-विकासक्रम के इतिहास की व्याख्या को बदल सकती है। भारत में जीवाश्म विज्ञान की नींव रखने का श्रेय प्रो. बीरबल साहनी को दिया जाता है। माता-पिता का आरम्भिक प्रभाव अक्सर बच्चे के व्यक्तित्व एवं मानस को आकार देता है। बीरबल सौभाग्यशाली थे कि उन्हें रुचिराम साहनी जैसे प्रेरक पिता मिले, जो स्वयं एक खुदमुख्तार व्यक्ति थे। विज्ञान के प्रचार-प्रसार के अपने पथप्रदर्शक

काम के अलावा रुचिराम ने अपने ज़माने की सामाजिक कुरीतियों की पुरजोर खिलाफत की थी।

उनका मानना था कि शिक्षा और विज्ञान के माध्यम से ही भारत की गरीब जनता का जीवनस्तर सुधारा जा सकता है। मोतीलाल नेहरू, गोपाल कृष्ण गोखले, सरोजिनी नायडू और मदन मोहन मालवीय जैसे प्रमुख नेता अक्सर उनके घर आया करते थे। बीरबल साहनी इसी ज्ञान-सम्पन्न वातावरण में बड़े हुए।



बीरबल साहनी का जन्म 14 नवम्बर 1891 को एक छोटे-से कस्बे भेड़ा में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। बचपन से ही उन्हें साहसी कामों में बड़ा आनन्द आता था। 14 साल की उम्र में एक दिन वे अपने छोटे भाई और बहन के साथ केकड़े पकड़ने के अभियान पर निकले। रूमाल और टीन के कुछ डिब्बों के साथ वे गहरी घाटियों में उतरे, ऊँची चट्टानों पर चढ़े और रात ढलने के बाद ही घर वापस लौटे। पर उनके समझदार माता-पिता ने उन्हें इसके लिए डाँटा-फटकारा नहीं। बीरबल अक्सर अपने पिता के साथ हिमालय के दूर-दराज के क्षेत्रों में घूमने जाते। इन अभियानों में वे अपने साथ जोसेफ डाल्टन हुकर्स द्वारा लिखित वनस्पतिशास्त्र की पुस्तक *फ्लोरा इण्डिका (Flora Indica)* भारत की वनस्पति) ले जाना नहीं भूलते। अपना बहुत सारा समय वे पौधों को पहचानने में व्यतीत करते थे। एक बार जोज़ि-ला नामक दर्रा पार करते हुए उन्होंने कुछ लाल बर्फ इकट्ठी की। बाद में सिद्ध हुआ कि वह बर्फ में उगने वाली दुर्लभ किस्म की काई थी।

बीरबल की आरम्भिक पढ़ाई लाहौर के मिशन स्कूल और सेंट्रल मॉडल स्कूल में हुई। 1911 में उन्होंने गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर से स्नातक की डिग्री हासिल की, जहाँ उनके पिता रसायन विज्ञान के प्राध्यापक थे। उसी साल वे इंग्लैण्ड चले गए और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के इमैन्युएल कॉलेज में दाखिला ले लिया। उनके पास कोई सिफारिश-पत्र नहीं था और यह दाखिला उन्हें पूर्णतः अपनी काबिलियत पर मिला। मगर कुछ समय बाद उन्हें घर की याद सताने लगी और वे भारत लौटने के लिए व्याकुल हो उठे। परन्तु उनके बड़े भाई, जो उस समय इंग्लैण्ड में डॉक्टरी पढ़ रहे थे, ने बीरबल से मन लगाकर पढ़ने का आग्रह किया। उस दिन के बाद से बीरबल ने पीछे मुड़कर नहीं देखा और 1914 में केम्ब्रिज से स्नातक की डिग्री हासिल की। उस



समय रुचिराम साहनी इंग्लैण्ड में लॉर्ड रदरफोर्ड की मैनचेस्टर स्थित प्रयोगशाला में कार्यरत थे। छुट्टियों में बीरबल तस्वीरें उतारने में अपने पिता की मदद करते। जवाहरलाल नेहरू केम्ब्रिज में बीरबल की कक्षा में थे। दोनों को ही जीवाश्मों से प्रेम था। बीरबल और जवाहरलाल की मित्रता सारी ज़िन्दगी कायम रही।

बीरबल के शोधकार्य की परिणति जे.सी. विलिस के साथ मिलकर लिखी एक पुस्तक *लैसवॉस टेक्स्टबुक ऑफ बॉटनी (Lasvon's Textbook of Botany)* के प्रकाशन के रूप में हुई। जीवाश्म सम्बन्धी शोधकार्य के लिए बीरबल को 1919 में लन्दन विश्वविद्यालय ने डी.एससी. की डिग्री प्रदान की। 1920 में उनका शोधग्रन्थ *फिलोसॉफिकल ट्रांजेक्शन (Philosophical transaction)* नामक शोध पत्रिका में छपा; तब तक साहनी का नाम वनस्पतिशास्त्र के एक मौलिक चिन्तक के रूप में उभर चुका था।

केम्ब्रिज में पढ़ने के दौरान बीरबल की अपने शिक्षक प्रो. सीवर्ड के साथ गहरी दोस्ती हो गई थी। प्रो. सीवर्ड को जब कुछ भारतीय जीवाश्मों के नमूने अध्ययन के लिए भेजे गए तो उन्होंने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि उन पर शोध करने के लिए भारत में बीरबल साहनी उपयुक्त व्यक्ति हैं। प्रो. सीवर्ड द्वारा इस तारीफ के बाद बीरबल गम्भीर अनुसन्धान में जुट गए। 1920 में प्रो. सीवर्ड के साथ मिलकर उन्होंने *रिविज़न ऑफ*



लाखों साल पुराने पौधे के निशान,
जो इस चट्टान पर सुरक्षित हैं।

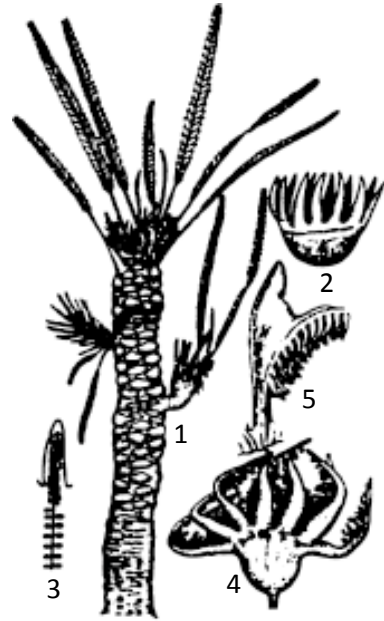
इण्डियन गोंडवाना प्लांट्स (Revision of Indian Gondwana Plants/ भारत की गोंडवाना वनस्पतियों का पुनरीक्षण) पुस्तक लिखी।

1921 में वे लखनऊ विश्वविद्यालय के नवनिर्मित वनस्पतिशास्त्र विभाग में पहले प्राध्यापक बने। वे न केवल

बी.एससी. के छात्रों को पढ़ाते थे, वरन् उनके प्रायोगिक कार्यों में भी मदद करते और उन्हें पेड़-पौधों के अवलोकन के लिए परिभ्रमण पर ले जाते। अपने श्रम से वे वनस्पतिशास्त्र में अनुसन्धान का एक जीवन्त केन्द्र स्थापित कर पाए। वे अपने विषय में दक्ष थे ही, इसके अलावा वे दोनों हाथों का उपयोग करते हुए ब्लैकबोर्ड पर बहुत तेजी से बढ़िया चित्र बनाने में भी माहिर थे। वे कार्य-व्यसनी थे और सदैव अपने काम में डूबे रहते थे। वे दिन-रात अपने हाथों से जीवाश्मों की पतली परतें काटते, घिसते और उन्हें चमकाते। जल्द ही वे जीवाश्म और चट्टानों के वैज्ञानिक नमूने तैयार करने में माहिर हो गए।

वे पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री थे जिन्हें 1936 में रॉयल सोसाइटी की फ़ैलोशिप से सम्मानित किया गया। उन्होंने भारतीय विज्ञान कांग्रेस के कई सत्रों की अध्यक्षता की तथा उन्हें अमेरिकन एक्कैडमी ऑफ आर्ट्स एंड साइंसेस की मानद सदस्यता भी प्रदान की गई।

विज्ञान में गहरी रुचि के साथ-साथ साहनी के अन्य बहुत से शौक थे। संगीत से उन्हें अथाह लगाव था और वे सितार और वायलिन बजाते थे। अपने खाली समय में वे चित्रकारी करते और मिट्टी के नमूने बनाते थे। शतरंज का उन्हें जुनून था। स्कूल और कॉलेज के दिनों में वे हॉकी और टेनिस खेलते थे। राष्ट्रभक्त होने के नाते उन्होंने अंग्रेजी लिबास त्याग दिया था और हमेशा खादी की



जीवाश्मों का विश्लेषण करते हुए बीरबल साहनी विलुप्त पौधे विलियमसोनिया की वैसी पुनर्रचना कर पाए जैसा कि वह दिखता था। यह फूल उत्पन्न करने वाले प्रारम्भिक पौधों में से था।

- (1) पौधा; (2) नर फूल; (3) पुंकेसर;
(4) अन्य प्रजाति का एक नर फूल;
(5) माइक्रोस्पोरोफिल।

शेरवानी पहनते थे। बचपन से ही उन्हें संस्कृत में गहरी रुचि थी जो आजीवन बनी रही।

साहनी के शोध में भारत में पुरा-वनस्पतिशास्त्र (palaeobotany) के लगभग सभी पक्ष समाहित थे। उन्होंने बिहार की राजमहल पहाड़ियों से पौधों के अनेक जीवाश्म एकत्रित किए। यहाँ उन्होंने जीवाश्मों का एक नया समूह खोजा और उसे 'पेंटोजायलेई' (Pentoxylae) नाम दिया। वे इण्डियन बॉटैनिकल सोसाइटी (Indian Botanical Society) के संस्थापक सदस्य थे।

साहनी की कई क्षेत्रों में रुचि थी। उन्होंने प्राचीन भारतीय सिक्के बनाने की विधि पर शोध किया और इसके लिए 1945 में उन्हें न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया (Numismatic Society of India) ने नेल्सन राइट पदक से सम्मानित किया। जीवाश्मों पर शोधकार्य करते हुए उन्हें भूविज्ञान का भी गहरा ज्ञान हो गया। उनके शोध ने डेक्कन ट्रैप्स और हिमालय के उभार के काल पर भी प्रकाश डाला।

1920 में बीरबल साहनी का विवाह सावित्री के साथ हुआ, जो उनके काम और प्रवास में हमेशा साथ रहीं। बाद में उन्होंने लखनऊ में गोमती नदी के किनारे अपना घर बनाया। 1946 में पुरा-वनस्पतिशास्त्र विषय पर शोध को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने एक ट्रस्ट की स्थापना की। साहनी और उनकी पत्नी ने इस परियोजना के लिए शुरुआती पूँजी, स्थावर सम्पत्ति, पुस्तकें और जीवाश्म दान दिए। पैलियो-बॉटैनिकल सोसाइटी (Paleo-botanical Society) ने





लखनऊ विश्वविद्यालय के एक छोटे कमरे में ही अपना काम आरम्भ किया। 1948 में राज्य सरकार ने इस नई संस्था के लिए ज़मीन आवण्टित की। 3 अप्रैल 1949 को भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस संस्था की नींव रखी। बीरबल साहनी ने इस अवसर पर उद्घाटन भाषण दिया जो

दुर्भाग्य से उनका अन्तिम भाषण सिद्ध हुआ। इसके एक सप्ताह बाद ही 9 अप्रैल 1949 की मध्यरात्रि को दिल का दौरा पड़ने से उनका देहान्त हो गया। बीरबल की मृत्यु के बाद सावित्री साहनी ने अपने पति के सपनों को साकार करने के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने अत्यन्त कठोर संघर्षों के बाद संस्था को मज़बूत बनाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाई। सावित्री साहनी के महत्वपूर्ण योगदान के लिए भारत सरकार ने 1969 में उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया। नवम्बर 1969 में अग्रणी वैज्ञानिक बीरबल साहनी की स्मृति में संस्था का नाम बदलकर बीरबल साहनी वनस्पत्यवशेषविज्ञान संस्थान (Birbal Sahni Institute of Paleobotany) रखा गया।



भारतीय डाक विभाग ने बीरबल साहनी के सम्मान में अनेक डाक टिकट जारी किए। विलुप्त वनस्पतियों की एक प्रजाति का नाम 'बीरबलसाहनिया दिव्यदर्शनी' रखा गया है।

जे.बी.एस. हाल्डेन

(1892 - 1964)

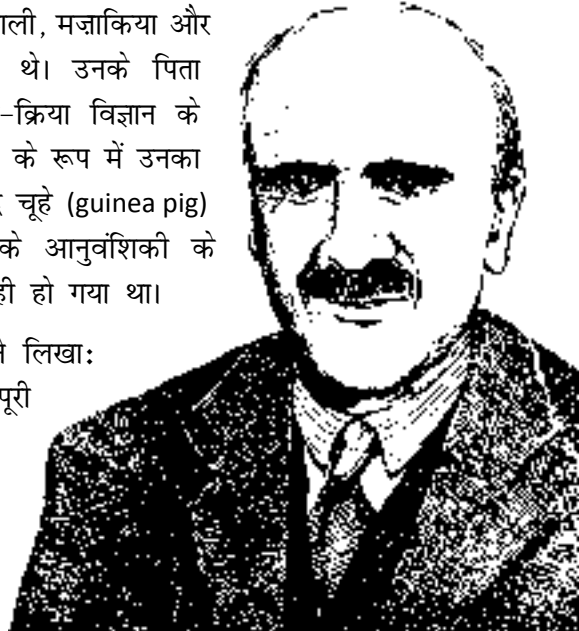
यह सच है कि कुछ मायनों में मैं एक विश्व-नागरिक हूँ— पर मैं थॉमस जैफरसन के इस मत से सहमत हूँ कि हरेक नागरिक का एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह अपने देश की सरकार को परेशान करता रहे।

— जे.बी.एस. हाल्डेन



जॉन बर्डन सैंडरसन हाल्डेन आधुनिक विज्ञान जगत् के सबसे बड़े झुंझकियों में से एक थे। वे स्वतंत्र, प्रतिभाशाली, मजाकिया और बिलकुल अनूठे थे। उनके पिता ऑक्सफोर्ड में शरीर-क्रिया विज्ञान के प्राध्यापक थे और पिता के सहायक के रूप में उनका विज्ञान का शिक्षण शुरू हुआ। सफेद चूहे (guinea pig) पालते हुए ग्रेगर योहान मेण्डल के आनुवंशिकी के सिद्धान्तों का ज्ञान उन्हें बचपन में ही हो गया था।

अपने बचपन के बारे में हाल्डेन ने लिखा:
“मेरा बचपन धार्मिक शिक्षण से पूरी तरह मुक्त था; घर में धर्म की



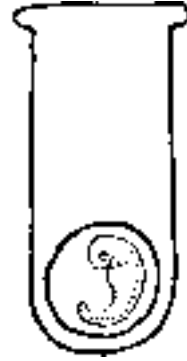
बजाय विज्ञान और दर्शन का माहौल था। बचपन से ही हमारे घर में ज्ञान-विज्ञान का सामयिक चिन्तन मेरे लिए उपलब्ध था, इसीलिए न तो आइंस्टाइन की बातें मेरी समझ के बाहर हैं और न ही फ्रॉयड की बातों से मैं थर्राता हूँ। अपनी जवानी में मैंने युद्ध में भाग लिया और इन्सानी स्वभाव के वे पक्ष देखे जो आम बुद्धिजीवी नहीं देख पाते। एक वयस्क के रूप में मैं जीव विज्ञानी हूँ और दुनिया को एक अनुठी दृष्टि से देखता हूँ, जो मेरे खयाल से पूरी तरह भ्रामक भी नहीं है।”

हाल्डेन ने अपने शक्तिशाली शरीर पर तमाम तरह के प्रयोग करके अपनी पारिवारिक परम्परा को कायम रखा। एक प्रयोग में उन्होंने माँसपेशियों के कार्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने के लिए काफी मात्रा में हाईड्रोक्लोरिक अम्ल पी लिया था; एक अन्य प्रयोग में उन्होंने कड़ी वर्जिश करके अपने फेफड़ों में पैदा हुई कार्बन डाईऑक्साइड का दबाव मापा था।

पढ़ाई समाप्त करने के बाद हाल्डेन ने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में आनुवंशिकी और जीवसांख्यिकी (biometry) पढ़ाना शुरू किया। जनसंख्या आनुवंशिकी (population genetics) की नींव रखने वाले तीन दिग्गजों में से एक हाल्डेन थे। इस मामले में महत्ता में उनकी गणना आर.ए. फिशर और सेवाल राइट के बाद आँकी जाती है। प्राकृतिक चयन को गणितीय पदों में परिभाषित करने के लिए आनुवंशिकी की अवधारणाओं का उपयोग करना हाल्डेन की मेधा का कमाल था। इससे मेण्डल की आनुवंशिकी और डार्विन के विकासक्रम के बीच संश्लेषण का मार्ग प्रशस्त हुआ, जो आधुनिक जीव विज्ञान का आधार है। आनुवंशिकी के अलावा हाल्डेन ने जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण शोध किए। साथ ही उन्होंने इतिहास और राजनीति पर भी खूब लिखा।



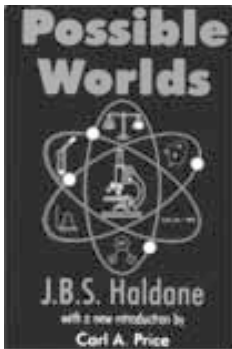
1924 में हाल्डेन ने एक गल्पकथा लिखी जिसका शीर्षक था *डैडालस (Daedalus)*। यह पहली पुस्तक थी जिसमें बिना सम्भोग या गर्भ धारण किए, परखनली में प्रजनन की वैज्ञानिक सम्भाव्यता का वर्णन था। उस समय इस कहानी को विज्ञान की गल्पकथा का एक दिल दहलाने वाला नमूना माना गया। *डैडालस* लोकप्रिय और प्रभावशाली पुस्तक सिद्ध हुई और उसने 20वीं सदी में लगने वाले झटकों की एक झलक पेश की। उससे ही प्रेरित होकर एल्डस हक्सले ने 1932 में अपना उपन्यास *ब्रेव न्यू वर्ल्ड (Brave New World)* लिखा। परखनली प्रजनन से जन्मे बच्चों पर आधारित समाज की इस कहानी में दुनिया रहने लायक नहीं रह जाती।



कृत्रिम प्रजनन की सम्भावनाओं को उजागर करने के बावजूद हाल्डेन ने सुजनन-विज्ञान की घोर निन्दा की। उन्होंने शिकायत की कि “मनुष्यों की आजादी के दुश्मन” आनुवंशिकी सिद्धान्त को तोड़-मरोड़कर उसका उपयोग अपने संकीर्ण राजनैतिक हितों के लिए कर रहे हैं।

1926 में हाल्डेन ने *डेली एक्सप्रेस (Daily Express)* की एक युवा संवाददाता शारलोट बर्गीस से शादी की। बाद में उन्हें तलाक देकर हाल्डेन ने एक जीव विज्ञानी हेलन स्पर्वे से विवाह कर लिया।

हाल्डेन का आम लोगों की भलाई से गहरा जुड़ाव था। ऑक्सफोर्ड में छात्र जीवन के दौरान वे उदारवादी थे, परन्तु बाद में वे वामपन्थी धारा की ओर आकर्षित हुए और 1942 में उन्होंने औपचारिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। आगे चलकर वे कम्युनिस्ट पार्टी के अखबार *डेली वर्कर (Daily Worker)* के सम्पादन मण्डल के अध्यक्ष बने। इस दौरान उन्होंने विज्ञान के विषय पर 300 से भी अधिक लेख लिखे, जिनमें उनकी लोकोन्मुखी राजनीति भी साफ उजागर होती है।



“मैं महसूस करता हूँ कि अगर प्राध्यापक राजनीति से अलग रहने की चेष्टा भी करते हैं तब भी राजनीति प्राध्यापकों को अकेला नहीं छोड़ेगी।”

हाल्डेन का विश्वास था कि जो सुविधाएँ उन्हें मिली थीं वही सुविधाएँ मेहनतकश लोगों को भी उपलब्ध होनी चाहिए, इसलिए वे समाजवादी बने। बाद में सोवियत संघ की घटनाओं, जैसे कि मेण्डलवाद विरोधी कृषि वैज्ञानिक लायसेन्को का उत्थान और स्टालिन के अपराध, से खिन्न होकर उन्होंने पार्टी छोड़ दी। हालाँकि स्टालिन और लायसेन्को के प्रति उन्होंने आंशिक समर्थन प्रदर्शित किया था।

हाल्डेन के उस समय की शिक्षा प्रणाली सम्बन्धी विचार आज भी सामयिक हैं। उनके अनुसार: “हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों के लिए अन्यायपूर्ण है, क्योंकि वह उनमें से अधिकांश को उचित अवसर नहीं देती और व्यवहारतः किसी भी छात्र को मनुष्य के दृष्टिकोण से विज्ञान नहीं पढ़ाया जाता है। विज्ञान को किसी काल्पनिक स्थिर या एकरूप गतिशील पिण्ड की तरह से पढ़ाने के बदले उसे सीधे मनुष्य के शरीर का उदाहरण लेकर पढ़ाना चाहिए। मैंने तीन वर्ष की आयु से इसी प्रकार सीखना शुरू किया।”

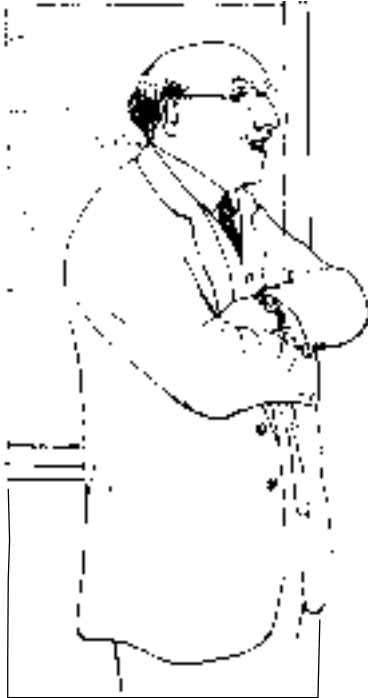
अपने निबन्ध *ऑन बीइंग द राइट साइज़ (On Being The Right Size)* में हाल्डेन ने लिखा कि जीव का आकार ही अन्ततः उसके शरीर के आन्तरिक ढाँचे को तय करता है: “कीट-पतंगे छोटे होते हैं इसलिए उनमें ऑक्सीजन पहुँचाने वाली रक्तशिराएँ नहीं होतीं। जो थोड़ी-बहुत ऑक्सीजन उनकी कोशिकाओं के लिए ज़रूरी होती है उसे शरीर की त्वचा बाहर के वातावरण से सोख लेती है। किन्तु बड़ा आकार होने का अर्थ है कि शरीर की प्रत्येक कोशिका तक ऑक्सीजन पहुँचाने के लिए जटिल पम्पिंग यंत्रों की आवश्यकता होगी।”



1937 में उन्होंने *माई फ्रेंड मिस्टर लीकी (My Friend Mr. Leakey)* लिखी। बच्चों के लिए लिखी उनकी यह शायद एकमात्र पुस्तक है। मिस्टर लीकी का अबूझ-सा पात्र बच्चों को बहुत पसन्द आया और उन्होंने हाल्डेन को सारी ज़िन्दगी हज़ारों पत्र लिखे।

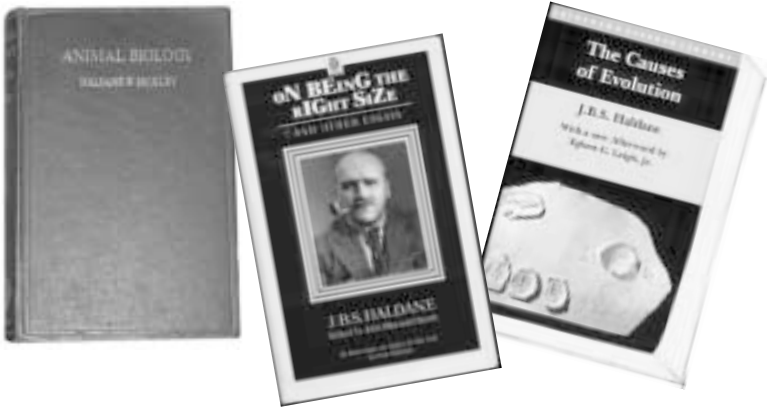
हाल्डेन विज्ञान के अद्वितीय प्रचारक थे। उनके लेख स्पष्टता की मिसाल हैं। वे विज्ञान की गूढ़ अवधारणाओं का अर्थ तोड़े-मरोड़े बिना उन्हें सरल तरीके से पेश करने में सक्षम थे। अपने लेखों, निबन्धों और भाषणों के कारण वे विश्व के जाने-माने विज्ञान-प्रचारक बन गए। उन्होंने खदान मजदूरों को जीवाश्म खोजने के लिए प्रशिक्षित और प्रेरित किया। और जब कभी कोई खदान मजदूर पृथ्वी के गर्भ से कोई जीवाश्म ढूँढकर लाता तो वे उसे 10 ब्रिटिश पाउण्ड का पुरस्कार देते।

1957 में इंग्लैण्ड और फ्रांस द्वारा स्वेज़ पर आक्रमण के विरोध में हाल्डेन भारत आ गए। भारत में आनुवंशिकी और जीवसांख्यिकी पर शोध के



लिए उपलब्ध सुविधाओं से भी वे प्रभावित थे। वे प्रफुल्ल चन्द्र महालनोबिस के निमंत्रण पर कलकत्ता स्थित भारतीय सांख्यिकीय संस्थान से जुड़ गए।

भारतीय सांख्यिकीय संस्थान के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में उन्होंने लिखा, “वैसे मैं इस संस्था का बहुत आभारी हूँ, इसका सबसे बड़ा यह उपकार है कि इसने मुझे कुछ महत्वपूर्ण खोज करने का अवसर दिया है। जैसे, यहाँ मैं अपने से कम उम्र के कई ऐसे नौजवान अनुसन्धानकर्ताओं को खोज पाया हूँ जो वैज्ञानिक शोध की महान परम्परा के वाहक हैं।”



1962 में हाल्डेन आनुवंशिकी एवं जीवसांख्यिकी प्रयोगशाला (जेनेटिक्स एंड बायोमेट्री लेबोरेटरी) स्थापित करने के लिए भुवनेश्वर चले गए।

हाल्डेन ने अपने समूह के युवा छात्रों को जीव विज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान करने के लिए प्रोत्साहित किया और उनका हमेशा नापतौल, सांख्यिकी और विश्लेषण पर जोर होता था। इसके लिए उन्होंने रोचक समस्याएँ चुनीं, मिसाल के लिए – किसी खेत में केंचुओं द्वारा खोदी गई मिट्टी की मात्रा का अनुमान; एक ही प्रजाति के फूलों में पंखुड़ियों की संख्या में विविधता; एक खेत में किसी एक ही प्रजाति या उसी खेत में विभिन्न प्रजातियों के धान लगाने से उनकी उपज पर होने वाले प्रभाव की तुलना।

भारत में जीव विज्ञान के शिक्षण में हाल्डेन के प्रयासों से गुणात्मक परिवर्तन आया। भारतीय विश्वविद्यालयों के हालात से वे दुखी थे। उन्होंने कहा, “जीव विज्ञान पढ़ने वाले छात्रों को कम उम्र से ही गणित और सांख्यिकी के विषयों को त्यागना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप जीव विज्ञान के स्नातक स्वतः ही अधिकांश प्रकार के अनुसन्धान से वंचित रह जाते हैं, जो कृषि और पशुपालन के विकास में महत्वपूर्ण है।”

हाल्डेन के अभूतपूर्व योगदानों के लिए उन्हें अनेक सम्मान मिले। 1932 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। 1953 में रॉयल सोसाइटी ने उन्हें डार्विन पदक से सम्मानित किया। 1937 में फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें

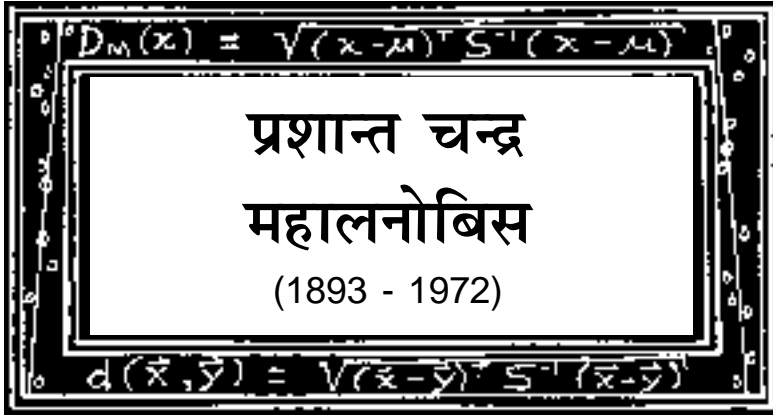
लीज्जन ऑफ ऑनर्स प्रदान किया और एकेडेमिया नेशनैल द लिंग्सी (Accademia Nazionale dei Lincei) ने उन्हें 1961 में फेल्ट्रीनेली पुरस्कार से नवाजा। 1932 से 1936 तक वे जेनेटिकल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे। हाल्डेन एक अदम्य व्यक्ति थे। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व कैंसर से पीड़ित हाल्डेन ने अपनी बीमारी पर एक कविता लिखी:

कैंसर भी क्या अजब चीज़ है:
काश मेरे पास होते होमर के बोल
जिससे मैं करता कैंसर की स्तुति दिल खोल।
इस बीमारी से इतने ज़्यादा लोग मरते हैं
कि ट्रॉय की लड़ाई में मरे बन्दे कम लगते हैं।

यह कविता उनके मित्रों को भेजी गई। इस कविता के ज़रिए उन्होंने उस बेबाक अश्रद्धा का मजा लिया जिसे हाल्डेन ने अपनी बिन्दास और जरखेज़ जिन्दगी में अपनाया था।

1 दिसम्बर 1964 को हाल्डेन का देहान्त हुआ। वसीयतनामे के अनुसार उनके मृत शरीर को काकिनाडा स्थित रंगराया मेडिकल कॉलेज को दान स्वरूप भेज दिया गया। हाल्डेन ने अपनी वसीयत में लिखा था, “...मृत्यु के बाद, चाहे मैं रहूँ या न रहूँ, इस शरीर का मेरे लिए अब कोई अन्य उपयोग नहीं होगा और मैं आशा करता हूँ कि दूसरे इसका उपयोग करेंगे। सम्भव हो तो मेरे द्वारा छोड़े धन में से सबसे पहला खर्च मेरे शरीर के प्रशीतन पर करें।”





सांख्यिकी का कोई स्पष्ट उद्देश्य होना अनिवार्य है, जिसका एक पक्ष वैज्ञानिक विकास हो, और दूसरा लोगों की खुशहाली और राष्ट्रीय विकास।

- प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस

प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस, जिन्हें 'प्रोफेसर' सम्बोधित किया जाता है, शिक्षा से भौतिक विज्ञानी, दिल से सांख्यिकीविद् और विचारों से अर्थशास्त्री थे। यह गौरतलब है कि उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान उन क्षेत्रों में था जिनमें उनके पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी। शायद बहुत से लोग उनके आदर्श का अनुसरण करना चाहेंगे। प्रख्यात जीव विज्ञानी जे. बी.एस. हाल्डेन ने ठीक ही कहा था:

“यह बात ठीक ही है कि किसी पुरुष या महिला का मौलिक शोध उस विषय में हो जिसमें उसके पास कोई औपचारिक डिग्री न हो। डिग्री हासिल करने के



लिए लोग तथ्यों और सिद्धान्तों को कुछ-कुछ तोते की तरह रटते हैं। जिस विषय में परीक्षा में प्रथम श्रेणी पाने के खयाल से पढ़ाई की गई हो, उसमें पूरी तरह मौलिक होना काफी मुश्किल है।”

महालनोबिस का जन्म 29 जून 1893 को कलकत्ता में हुआ। दो भाइयों और तीन बहनों में वे सबसे बड़े थे। उनका परिवार समृद्ध था और ब्राह्म समाज के उदार मूल्यों और परम्पराओं में विश्वास रखता था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ब्राह्म बॉयज़ स्कूल, कलकत्ता में हुई और 1912 में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान में ऑनर्स के साथ बी.एससी. की डिग्री प्राप्त की। वे सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा के समकालीन एवं मित्र थे।

उनकी पत्नी निर्मला कुमारी का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव था और उन्होंने आजीवन उनके सभी कामों में हाथ बैटाया। निर्मला कुमारी का परिवार भी बहुत प्रगतिशील था।

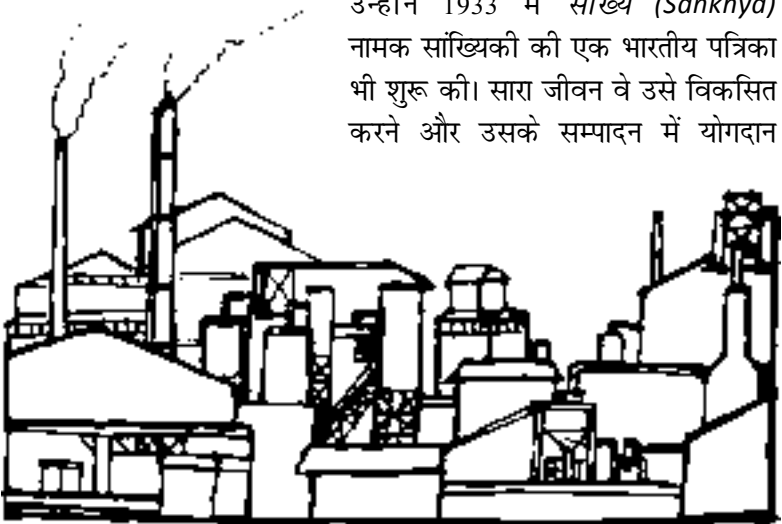
महालनोबिस ने तीन प्रमुख कार्य किए — बड़े पैमाने पर सर्वेक्षण करने के तंत्र का गठन, भारत की विभिन्न प्रकार की मूर्त समस्याओं को सुलझाने में सांख्यिकी के सिद्धान्तों का प्रयोग और विश्वस्तरीय संस्थाओं का गठन। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से गणित और भौतिक विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के बाद उन्होंने कुछ समय तक कैवेन्डिश प्रयोगशाला में काम किया और 1915 में वे अल्प अवकाश के लिए भारत आए। उन्हें भारत में अनेक चुनौतीपूर्ण समस्याएँ नज़र आईं और उन्होंने भारत में ही रहने का निर्णय लिया। उन्होंने कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान पढ़ाना शुरू किया, जहाँ उन्होंने सांख्यिकीय पद्धति द्वारा परीक्षा परिणामों का विश्लेषण किया। इस कार्य में उन्हें इतना मज़ा आया कि उन्होंने भौतिक विज्ञान छोड़ दिया और फिर तथ्यों, आँकड़ों, ग्राफों और चार्टों से ही सारी जिन्दगी प्यार करते रहे। महालनोबिस के आने से पहले देश सांख्यिकी से लगभग अनजान था। इस विषय को भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था।

महालनोबिस सर्वेक्षण नमूना तकनीकों के प्रणेता थे। भारत की स्वतंत्रता के तुरन्त बाद उन्हें नवगठित मंत्रीमण्डल का सांख्यिकी सलाहकार नियुक्त

किया गया। 1955 में उन्होंने भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना का मसौदा तैयार किया, जिसमें बेरोज़गारी खत्म करने के लिए तेज़ी से औद्योगीकरण की दलील दी गई। उन्होंने इस्पात उद्योग और बड़े कारखानों में भारी पूँजी निवेश की अनुशंसा की। नियोजन का उनका दृष्टिकोण 1940 के दशक के आर्थिक संकट को प्रतिबिम्बित करता था – अतिरिक्त श्रम शक्ति को व्यापक औद्योगीकरण में खपाना। लेकिन 1970 के दशक तक इन अवधारणाओं की वैधता लगभग खत्म हो गई, क्योंकि औद्योगीकरण में राज्य का भारी पूँजी निवेश प्रभावी रूप से गरीबी हटाने में सफल नहीं रहा। इसलिए बाद की आर्थिक नीतियों में सीधे तौर पर ग्रामीण गरीबी दूर करने के प्रयास किए गए।

सांख्यिकीय तौर-तरीकों से आकर्षित हो महालनोबिस ने इनका गहन अध्ययन आरम्भ किया और कॉलेज में एक सांख्यिकीय प्रयोगशाला की स्थापना की। इसी प्रयोगशाला ने 1932 में विकसित होकर भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) का रूप लिया।

उन्होंने 1933 में सांख्य (Sankhya) नामक सांख्यिकी की एक भारतीय पत्रिका भी शुरू की। सारा जीवन वे उसे विकसित करने और उसके सम्पादन में योगदान



देते रहे। 1950 में उन्होंने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण और 1951 में केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन की स्थापना की।

भारतीय सांख्यिकीय संस्थान ने विभिन्न विषयों के अन्तर्सम्बन्धों पर विश्वस्तरीय काम किया और दुनिया के अग्रणी वैज्ञानिकों को साथ जोड़ा। प्रख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक जे.बी.एस. हाल्डेन भारत में आ बसे और भारतीय सांख्यिकीय संस्थान में नियमित कार्यकर्ता की तरह काम करने लगे। हाल्डेन के मार्गदर्शन में संस्थान जल्द ही भारत में जीव और



वनस्पति आनुवंशिकी का अग्रणी शोधकेन्द्र बना। विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ और साइबरनेटिक्स (cybernetics) के पितामह नॉर्बर्ट वॉइनर ने भारतीय सांख्यिकीय संस्थान में विशिष्ट प्राध्यापक की हैसियत से छह माह बिताए।

महालनोबिस ने सांख्यिकी का उपयोग विभिन्न प्रकार की सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों को गहराई से समझने के लिए किया। 1920 के दशक के आरम्भ में उन्होंने कलकत्ता के एंग्लो-इण्डियन समुदाय पर जुटाए गए आँकड़ों द्वारा विभिन्न समुदायों के शारीरिक गुणधर्मों को मापने का तरीका खोजा। 1930 के दशक में केन्द्रीय जूट समिति ने उन्हें समूचे बंगाल का सर्वेक्षण कर जूट के कुल उत्पादन का अनुमान लगाने को कहा। यह इतना बड़ा सर्वेक्षण था कि इससे 1950 में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के पहले चरण की नींव पड़ी। बाद में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण भारत में गरीबी और लोगों के जीवन-स्तर के आँकड़ों का प्राथमिक स्रोत बन गए।

उपलब्धियों की उपरोक्त सूची महत्वपूर्ण क्यों है? राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की शुरुआत से पहले बड़े पैमाने के सर्वेक्षण गरीब देशों में तो क्या, दुनिया में कहीं भी नहीं हुए थे। भारत की 80 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती थी जबकि केवल एक-तिहाई गाँव ही सड़कों से जुड़े थे। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने कम-खर्च में सर्वेक्षण करके परिवारों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के राष्ट्रीय आँकड़े इकट्ठा करने के प्रयास किए, इनमें से बहुत से परिवार दूर-दराज़ के इलाकों में रहते थे। इसके लिए

अत्यधिक तकनीकी कुशलता, ऊर्जा, प्रतिबद्धता और नेतृत्व के गुणों की ज़रूरत थी जो महालनोबिस की विशेषता थी। भारत ने अनेक ख्यात सांख्यिकीविदों को पैदा किया है जिनमें से अधिकांश भारतीय सांख्यिकीय संस्थान से जुड़े रहे हैं और कुछ ने तो वास्तव में बुनियादी योगदान दिया है। महालनोबिस की यह विशिष्टता थी कि उन्होंने बहुत-सी ठोस समस्याओं को उठाया और वैज्ञानिक पद्धति द्वारा गम्भीरता से उनका हल खोजने का प्रयास किया। महालनोबिस के अनुसार, “सांख्यिकी का कोई उद्देश्य होना चाहिए।”

विश्व की कई शैक्षिक संस्थाओं ने सांख्यिकी और आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य करने के लिए महालनोबिस को सम्मानित किया। 1945 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के संस्थापक फ़ैलो थे (1935) और उसके अध्यक्ष भी रहे (1957-58)। उन्हें कलकत्ता, दिल्ली, स्टॉकहोम और सोफिया विश्वविद्यालयों ने डॉक्टरेट की मानद उपाधियों से नवाजा। भारत सरकार ने 1968 में उन्हें पद्म विभूषण से अलंकृत किया।

प्रसिद्ध अमरीकी सांख्यिकीविद् डब्लू.ए. डेमिंग ने महालनोबिस की प्रशंसा निम्न शब्दों में की:

कोई भी देश, चाहे वह विकसित हो, कम विकसित हो या अतिविकसित हो, उसके पास खर्च, बचत, बीमारी में बीता समय, रोज़गार, बेरोज़गारी, कृषि और औद्योगिक उत्पादन पर इतनी विस्तारपूर्वक जानकारी का खज़ाना नहीं है।

और इस सब के लिए हम भारतीय सांख्यिकी के पितामह प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस को नमन करते हैं। उनका देहान्त 79 वर्ष की उम्र में 28 जून 1972 को हुआ।





बहुत गैर-बराबरी वाले समाज में निचली जाति के लोगों के साथ अक्सर नाइन्साफी होती है और उन्हें दबाया जाता है। इससे वे अपनी क्षमताओं को पूरी तरह विकसित करने में असमर्थ रहते हैं। पर यही असमानता की भावना कई होनहार लोगों को दासता की बेड़ियों को तोड़ने की प्रेरणा भी देती है। डॉ. मेघनाद साहा एक ऐसे ही अग्रणी भारतीय वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने संघर्ष और अथक लगन द्वारा सामाजिक बन्धनों को तोड़ा।

मेघनाद साहा का जन्म 6 अक्टूबर 1893 को सेयोरातली में हुआ। यह स्थान अब बांग्लादेश में है। उनके पिता जगन्नाथ साहा परचून की एक छोटी दुकान चलाते थे। जब मेघनाद का जन्म हुआ तब घनघोर तूफान आया हुआ था और धुआँधार बारिश हो रही थी। इसीलिए नवजात शिशु का नाम मेघनाद रखा गया।

मेघनाद के माता-पिता गरीब



थे। उनके भाई स्कूल में फेल हो गए थे। इसलिए माता-पिता ने मेघनाद को स्कूल भेजकर पैसे व्यर्थ करने की जरूरत नहीं समझी। परन्तु मेघनाद बहुत होशियार थे और वे अपने जन्म और जाति के बन्धनों को तोड़ना चाहते थे। माध्यमिक विद्यालय घर से दूर था। इसलिए उन्हें विद्यालय के पास ही एक दयालु व्यक्ति के साथ रहना पड़ा। परन्तु वे दयालु व्यक्ति भी सामाजिक पूर्वाग्रहों से ऊपर नहीं उठे थे। मेघनाद को अपने बर्तन स्वयं माँजने पड़ते थे क्योंकि कोई और उन्हें छूता नहीं था! पर मेघनाद ने इन सब बातों को धैर्यपूर्वक सहा। 1905 में उन्होंने मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की और पूरे ढाका मण्डल में प्रथम आए। उसके बाद उन्होंने ढाका शहर में ही कॉलेजिएट स्कूल में दाखिला लिया।

‘बाँटो और राज करो’ के सिद्धान्त द्वारा अँग्रेज भारत पर शासन करने में सफल हुए थे। लॉर्ड कर्जन ने बंगाल को पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बाँट दिया। बँटवारे का कारण प्रशासनिक सुविधा बताया गया। परन्तु एक भाग में हिन्दुओं और दूसरे में मुसलमानों का बाहुल्य था। इसलिए इसके पीछे छिपी अँग्रेजों की कूटनीति स्पष्ट थी। राष्ट्रवादी बंगालियों ने इस बँटवारे का विरोध किया। युवा मेघनाद ने अँग्रेज विरोधी आन्दोलनों में भाग लिया और इस कारण उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। सौभाग्य से एक अन्य स्कूल ने उन्हें दाखिला दे दिया। 1911 में उन्होंने विज्ञान विषय में इंटरमीडियेट उत्तीर्ण कर कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया।



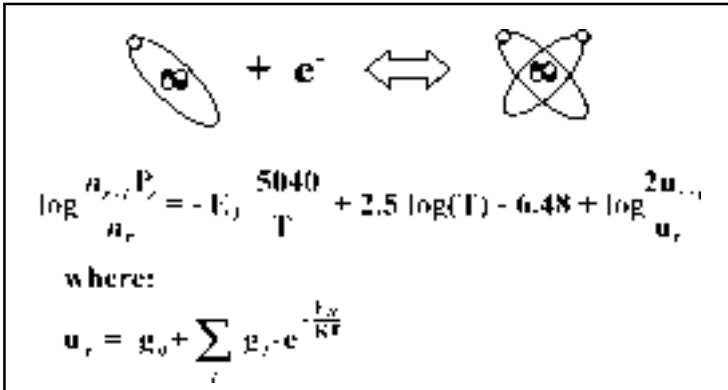
प्रेसिडेंसी कॉलेज में मेघनाद की भेंट अन्य बुद्धिमान लोगों से हुई। सत्येन्द्र नाथ बोस उनके सहपाठी थे, सुभाष चन्द्र बोस उनसे कनिष्ठ और प्रफुल्ल चन्द्र महालनोबिस उनके वरिष्ठ थे। उनके विलक्षण शिक्षकों में जगदीश चन्द्र बोस और प्रफुल्ल चन्द्र रे थे, जिनके उद्घोष, “विज्ञान इन्तजार कर सकता है लेकिन स्वराज नहीं,” का मेघनाद पर गहरा असर हुआ। 1913 में बी.एससी. और 1915 में उन्होंने एम.एससी. पूर्ण की जिसमें वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में दूसरे स्थान पर आए।

साहा को कलकत्ता में गरीबी और सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ी। अपनी आजीविका कमाने के लिए वे पूरे शहर में साइकिल पर ट्यूशन देने जाते। स्नातक होने के बाद बहुत-से क्षेत्रों की तरह मेघनाद वित्त सेवा की परीक्षा में बैठना चाहते थे, परन्तु राजनैतिक कार्यकर्ता होने की वजह से उन्हें रोक दिया गया। 1918 में राधारानी राय के साथ उनका विवाह हुआ।

उसके बाद साहा ने सत्येन्द्र नाथ बोस के साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग में नौकरी की। साहा गणितज्ञ के रूप में प्रशिक्षित हुए थे, इसलिए उन्हें प्रायोगिक भौतिकी में दक्ष होने में कुछ समय लगा।

उस समय तेजी से उभरते सापेक्षता के सिद्धान्त और क्वांटम यांत्रिकी (quantum mechanics) ने उन्हें आकर्षित किया। 1917 में उन्होंने अपना पहला शोधपत्र “ऑन मैक्सवैल्स स्ट्रैसेस, कंसर्निंग इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक थ्योरी ऑफ रेडियेशन” शीर्षक से लिखा, जो *फिलोसॉफिकल मैगजीन (Philosophical Magazine)* में प्रकाशित हुआ। 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.एससी. की डिग्री प्रदान की।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् वैज्ञानिकों ने तारों के प्रकाश को सूर्य के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के कारण मुड़ते हुए देखा और इस प्रकार आइंस्टाइन के सिद्धान्त की पुष्टि हुई। साहा ने इस क्षेत्र – तारों के वर्णक्रम – में गहरी रुचि ली और अपने शोध से इस विषय पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। 1814 में फ्रॉनहौफर ने सूरज के वर्णक्रम में बहुत-सी काली रेखाएँ खोजी



थीं। 1859 में किरकॉफ ने सिद्ध किया था कि वर्णक्रम की ये रेखाएँ किन्हीं निश्चित रासायनिक तत्वों को दर्शाती हैं। पृथ्वी से पहले हीलियम की खोज सूर्य पर हुई थी! बेहतर वर्णक्रममापी (spectrometer) से चमकीली और स्याह दोनों वर्णक्रम रेखाएँ देखने को मिलीं। परन्तु चमकीली और स्याह रेखाओं की संख्या ज्ञात तत्वों से कहीं अधिक थी। लोगों ने तरह-तरह के कयास लगाए कि इसका क्या कारण हो सकता है, परन्तु अन्त में इसका हल साहा ने खोजा। जब कोई गैस गर्म हो जाती है तो उसके कुछ इलेक्ट्रॉन धनात्मक आवेशित नाभिकों और ऋणात्मक आवेशित मुक्त इलेक्ट्रॉनों को छोड़कर दूर छिटक जाते हैं। इसे आयनीकरण (ionisation) की प्रक्रिया कहते हैं। साहा ने उच्च-तापीय आयनीकरण (high thermal ionisation) का सिद्धान्त विकसित किया और उसके आधार पर तारों का वर्णक्रम समझाया। साहा के आयनीकरण समीकरण ने खगोल भौतिकी की इस गूढ़ पहली को सुलझाया। इसे एक मील का पत्थर माना जाता है। इस समीकरण की सहायता से किसी तारे के निर्माण में लगे विभिन्न तत्वों के आयनीकरण की अवस्था की पहचान की जा सकती है।

एक अनुदान के सहयोग से साहा यूरोप का दौरा कर पाए। जर्मनी में उनकी भेंट प्रख्यात वैज्ञानिकों आइंस्टाइन और प्लैंक से हुई। 1923 में साहा भारत वापस लौटे। कुछ ही समय बाद उन्होंने प्रो. आशुतोष मुखर्जी के आमंत्रण पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान पढ़ाने के लिए खैरा प्रोफेसर का पद स्वीकारा। इसके बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आमंत्रण स्वीकार किया और इलाहाबाद चले गए, जहाँ उन्होंने 15 वर्ष काम किया।

1927 में सिर्फ 34 वर्ष की अल्पायु में साहा रॉयल सोसाइटी के फ़ैलो चुने गए। उन्होंने नाभिकीय भौतिकी में गहन शोध किया। पॉल डिराक और साहा ने मिलकर चुम्बकीय एकल ध्रुवों (magnetic monopoles) की शक्ति मापने के लिए एक सूत्र ईजाद किया।

साहा लोगों से अलग-थलग रहने वाले वैज्ञानिक नहीं थे। उन्होंने खुद को आम जनता की समस्याओं के समाधान में लगाया। लोगों के बीच वैज्ञानिक सोच का प्रसार करना उनकी प्राथमिकता थी।

यह सूत्र डिराक-साहा सूत्र के नाम से जाना जाता है। यह सूत्र इस क्षेत्र में साहा की सफलता का एक स्थायी मुकाम है।

1936 में साहा यूरोप और अमरीका के एक लम्बे शैक्षिक दौरे पर गए। एनरिको फर्मी, वर्नर हाइजेनबर्ग और नील्स बोहर के शोधकार्य ने दुनिया को परमाणु बम का तोहफा दिया था। साहा का नाभिकीय ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोगों में गहरा विश्वास था। 1940 में टाटा द्वारा 60,000 रुपयों के अनुदान की सहायता से साहा ने एक साइक्लोट्रॉन (cyclotron) का निर्माण कर भारत में नाभिकीय शोध की नींव रखी। नेहरू के सहयोग से उन्होंने नाभिकीय भौतिकी संस्थान (Institute of Nuclear Physics) की स्थापना की। बाद में इस संस्था का नाम बदलकर साहा नाभिकीय भौतिकी संस्थान (Saha Institute of Nuclear Physics) रखा गया। आगे चलकर साहा भारतीय विज्ञान विकास संघ (Indian Association for the Cultivation of Science) के निदेशक भी बने। इस संस्था के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया।

1952 में साहा कलकत्ता के उत्तर-पश्चिमी चुनाव क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य चुने गए। उनके राजनैतिक दृष्टिकोण का झुकाव वामपन्थी विचारों की ओर था। रूढ़िवाद के अपने अनुभवों के कारण उन्हें अन्धविश्वासों से घृणा थी और वे उत्कट तर्कवादी बन गए थे। उन्होंने *साइंस एंड कल्चर (Science and Culture)* नामक पत्रिका आरम्भ की और अनेक वर्षों तक उसका सम्पादन किया।

अनेक बुद्धिजीवियों की तरह साहा भी मानते थे कि योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था से देश को समस्याओं से मुक्ति मिलेगी। उन्होंने बंगाल में बाढ़ के ताण्डव को खुद अनुभव किया था। इसलिए वे बाढ़ नियंत्रण के लिए नदी-घाटी परियोजनाओं के पक्षधर थे। उनके ही सुझाव पर दामोदर घाटी प्राधिकरण की स्थापना हुई, जिसने बाँध बनाकर बाढ़ का प्रकोप कम करने का प्रयास किया।

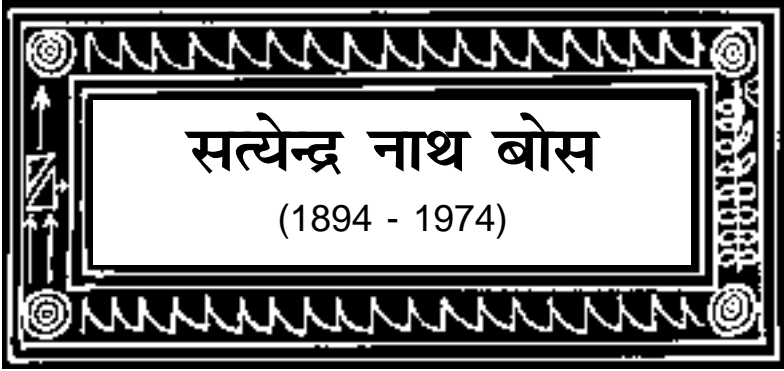
भारत में विविध क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार के कैलेण्डरों के अतार्किक विकास से साहा क्षुब्ध थे। इनकी त्रुटियों को सुधारने के लिए साहा की अध्यक्षता में कैलेण्डर संशोधन समिति का गठन हुआ, किन्तु गहरे

पूर्वाग्रहों के कारण इसमें आंशिक सफलता ही मिल पाई। साहा भाषाओं के आधार पर भारत के पुनर्गठन के भी दृढ़ पक्षधर थे।

साहा राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (National Academy of Sciences) के संस्थापक थे। विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद की कई समितियों के वे अध्यक्ष थे। 1944-46 में वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगॉल (वर्तमान में एशियाटिक सोसाइटी) के अध्यक्ष भी थे।

दिल्ली की एक आधिकारिक यात्रा के दौरान 16 फरवरी 1956 को दिल के दौर से साहा का निधन हुआ। उनके संघर्षों और उपलब्धियों ने सिद्ध किया कि जाति और गरीबी के बन्धनों को अथक परिश्रम और लगन से तोड़ा जा सकता है।





सत्येन्द्र नाथ बोस

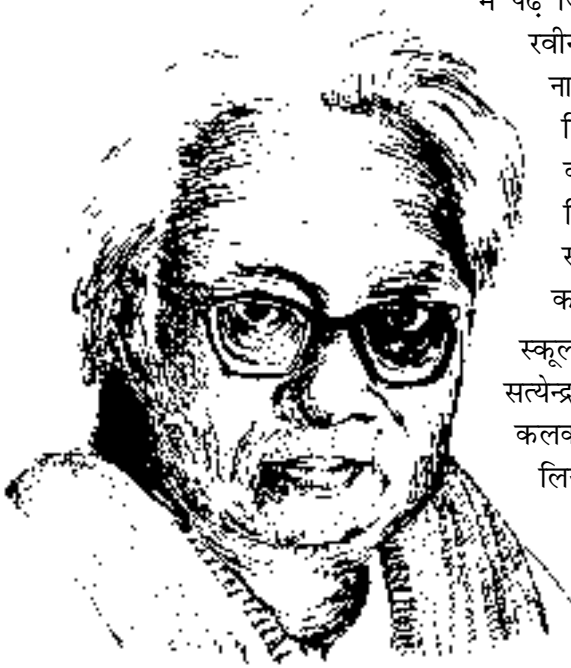
(1894 - 1974)

भारत में वैज्ञानिक तो बहुत हैं, लेकिन उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की बहुत कमी है। सत्येन्द्र नाथ बोस ऐसे बिरले वैज्ञानिकों में से एक थे। उन्होंने आइंस्टाइन के साथ मिलकर काम किया और सूक्ष्म कणों के एक वर्ग 'बोसॉन' (boson) का नाम उनके नाम पर रखा गया है।

सत्येन्द्र नाथ का जन्म 1 जनवरी 1894 को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता रेलवे के लेखा विभाग में कार्यरत थे। शुरू में सत्येन्द्र नाथ भी उसी स्कूल में पढ़े जिसमें बचपन में कुछ समय के लिए

रवीन्द्रनाथ ठाकुर पढ़े थे। बाद में सत्येन्द्र नाथ हिन्दू स्कूल में गए जहाँ उनके शिक्षक उपेन्द्र बक्शी ने उन्हें गणित की परीक्षा में 100 में से 110 अंक दिए क्योंकि सत्येन्द्र नाथ ने निश्चित समय सीमा में ही सवाल को हल करने के कई तरीके सुझाए थे।

स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद सत्येन्द्र ने इंटर की परीक्षा पास की और कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया। यहाँ उन्हें प्रफुल्ल चन्द्र रे और



जगदीश चन्द्र बोस जैसे प्रतिभावान शिक्षकों ने पढ़ाया। सत्येन्द्र पढ़ाई में बहुत होशियार थे और उन्हें शरीर-क्रिया विज्ञान की परीक्षा में 100 प्रतिशत अंक मिले। 1913 में उन्होंने बी.एससी. (ऑनर्स) की परीक्षा पास की और प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान प्राप्त किया। एम.एससी. की परीक्षा में 92 प्रतिशत अंक पाकर उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। दोनों ही अवसरों पर बोस के सहपाठी मेघनाद साहा दूसरे स्थान पर रहे। 1914 में जब सत्येन्द्र पढ़ ही रहे थे, उनका विवाह एक चिकित्सक की बेटी उषावती के साथ हुआ। 1916 में वे यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस में व्याख्याता बने। भौतिक विज्ञान विभाग में उनके पुराने मित्र और प्रतिस्पर्धी मेघनाद साहा भी उनके साथ थे। दोनों नवयुवक गणित में प्रवीण थे और उन्होंने स्वयं-शिक्षण द्वारा भौतिक विज्ञान में दक्षता हासिल की थी। 1918 में बोस का पहला शोधपत्र “द इनफ्लुएंस ऑफ द फाइनाइट वॉल्यूम ऑफ मॉलीक्यूल्स ऑन द इक्वेशन ऑफ स्टेट” *फिलोसॉफिकल मैगज़ीन (Philosophical Magazine)*, लन्दन में छपा। उनके अगले दो शोधपत्र पूर्णतः गणित से सम्बन्धित थे।

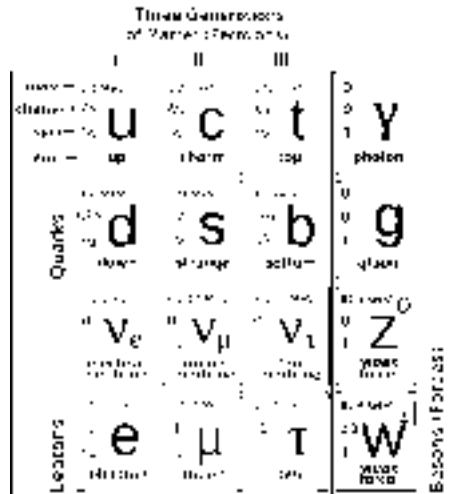
साहा के साथ मिलकर बोस ने आइंस्टाइन के “थ्योरी ऑफ जनरल रिलेटिविटी” (सार्वभौमिक सापेक्षता का सिद्धान्त) वाले शोधपत्र का मूल जर्मन से अँग्रेज़ी में अनुवाद किया। आइंस्टाइन के ब्रिटिश प्रकाशक ने इसका विरोध किया परन्तु आइंस्टाइन ने स्वयं इन युवा भारतीय वैज्ञानिकों को अनुमति प्रदान की।



1921 में ढाका में एक नए विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जिसके प्रशासक प्रतिभाशाली शिक्षकों को नियुक्त करना चाहते थे। उन्होंने बोस को रीडर का पद स्वीकारने के लिए आमंत्रित किया। नए विश्वविद्यालय में सुविधाओं के अभाव के बावजूद बोस ने अपना जोश कायम रखा। बोस हर काम को उत्तम तरीके से करना पसन्द करते थे। इस नाते वे मैक्स प्लैंक के कुछ समीकरणों की व्युत्पत्ति के तरीकों से असन्तुष्ट थे और उन्होंने इस विषय पर एक अद्वितीय शोधपत्र लिखा – “प्लैंक्स लॉ एंड लाइट क्वांटम हाईपैथिसिस” – जिसमें उन्होंने समीकरणों की व्युत्पत्ति का एक बढ़िया तरीका सुझाया।

1924 में कोई भी विज्ञान पत्रिका उस शोधपत्र को छापने के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए 30 वर्ष के बोस ने झिझकते हुए उसे अल्बर्ट आइंस्टाइन के पास टिप्पणी के लिए भेजा। आइंस्टाइन उस शोधपत्र से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने खुद उसका जर्मन में अनुवाद कर उसे प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक पत्रिका *जीटश्रिफ्ट फर फिसिक (Zeitschrift fur Physik)* में छपवाया। क्या कोई युवा भौतिक विज्ञानी इससे बड़े सम्मान की आशा कर सकता है?

बोस और आइंस्टाइन की जोड़ी ने मिलकर बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी की रचना की जो आज भी क्वांटम यांत्रिकी में उपयोग होती है। बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी का पालन करने वाले उप-पारमाण्विक कणों को बोस के नाम पर ‘बोसॉन’ कहा जाता है। अन्य उप-पारमाण्विक कणों के विपरीत अनगिनत बोसॉन एक समय में एक ही



अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। बोसॉन किसी निम्नतम ऊर्जा की स्थिति में एकत्रित होकर बोस-आइंस्टाइन संघनित (condensate) बनाते हैं।

अक्टूबर 1924 में बोस ने यूरोप का शैक्षणिक दौरा किया। उन्होंने एक वर्ष फ्रांस में बिताया, जिसमें से कुछ समय उन्होंने मादाम क्यूरी की प्रसिद्ध प्रयोगशाला में काम किया। इसके बाद उन्होंने एक साल जर्मनी में भी बिताया, जहाँ आइंस्टाइन के अलावा उन्होंने अन्य प्रसिद्ध वैज्ञानिकों – लाइस मेइटरनर, ओट्टो हान, वुल्फगैंग पौली और हाइजेनबर्ग से भेंट की। उस समय बर्लिन को वैज्ञानिक शोध में दुनिया की राजधानी माना जाता था। बोस ने बर्लिन में बहुत कुछ सीखा जिसका उन्होंने ढाका में भरपूर उपयोग किया। बोस ने ढाका में प्रयोग करने की सुविधाएँ स्थापित कीं और छात्रों को उनका उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके कारण के.एस. कृष्णन जैसे अच्छे शोधकर्ता आकर्षित हुए, जिन्होंने मैग्नेटिक एनीसोट्रॉपीज़ (magnetic anisotropies) पर बुनियादी काम किया और बाद में अनेक शोधपत्र लिखे।

ढाका में बिताया समय शायद बोस के जीवन का सबसे सुखद काल था। परन्तु बढ़ता हुआ साम्प्रदायिक तनाव देख उन्हें बेहद दुख होता था। इसलिए 1947 में बँटवारे के बाद जब उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में खैरा प्रोफेसर के पद का आमंत्रण मिला तो उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

पचास के दशक के मध्य प्रोफेसर पी.ए.एम. डिराक अपनी पत्नी के साथ कलकत्ता आए। एक दिन वे बोस के साथ एक ही कार में बैठे थे। बोस ने उन्हें पिछली सीट पर बैठाया। अगली सीट पर चालक के साथ बोस स्वयं बैठे। जगह की कमी थी, फिर भी बोस ने कुछ छात्रों को अपने साथ बैठने का आग्रह किया। डिराक ने हैरानी से पूछा कि क्या इससे भीड़ नहीं हो जाएगी? बोस ने पीछे मुड़कर अपने प्यारे अंदाज़ में कहा, “यहाँ हम बोस सांख्यिकी में विश्वास करते हैं।” डिराक ने अपनी पत्नी को समझाते हुए कहा, “बोस सांख्यिकी में चीजें एक स्थान पर भीड़ कर देती हैं।”

उस समय शोध संस्थाओं का शोध अनुदान बहुत कम होता था। उदाहरण के लिए, बोस और अन्य प्राध्यापकों को उस काल में केवल 2,500 रुपए सालाना का शोध अनुदान ही मिलता था। परन्तु इसके बावजूद कलकत्ता

विश्वविद्यालय की ख्याति एक सक्रिय व रचनात्मक शोध केन्द्र के रूप में पूरे भारत में फैली। परिश्रम और लगन ने साधनों के अभाव की पूर्ति की।

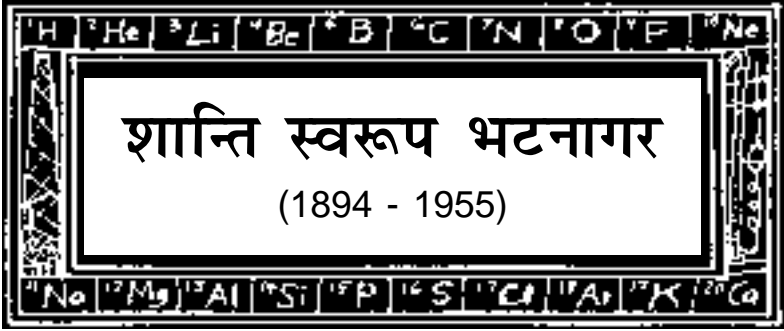
बोस की प्रयोगशाला क्ष-किरण क्रिस्टलिकी (X-ray crystallography) के अध्ययन के क्षेत्र में प्रख्यात हो गई। 1945-48 के काल में बोस को भारतीय भौतिकीय सोसाइटी (Indian Physical Society) का अध्यक्ष चुना गया। बाद में भारत सरकार ने 1954 में उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया और 1958 में वे रॉयल सोसाइटी, लन्दन के फ़ैलो चुने गए। बोस का अन्तिम महत्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान यूनिफाइड फ़ील्ड थ्योरी (unified field theory) के विकास की दिशा में किया गया कार्य था, जिसमें उन्होंने विद्युत-चुम्बकीय बलों और गुरुत्वाकर्षण बलों को जोड़ने की कोशिश की।

1956 में बोस विश्वभारती के उपकुलपति बने, जो शान्ति निकेतन के नाम से ज़्यादा प्रख्यात है और जिसका नाम सदा के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ जुड़ा हुआ है। विज्ञान और आध्यात्म, प्राचीन पूर्व तथा आधुनिक पश्चिम के बीच सेतु का काम करने वाली इस संस्था ने स्वाभाविक रूप से बोस को आकर्षित किया। बोस के स्वाभाविक दोस्ताना अन्दाज़ की वजह से उन्हें वहाँ लोगों से मित्रता स्थापित करने में कोई दिक्कत नहीं हुई। परन्तु प्रशासन के दौंव-पेंच उन्हें नहीं आते थे और उनके द्वारा सुझाए सुधारों का घोर विरोध हुआ। इसलिए 1959 में वे खुशी-खुशी कलकत्ता विश्वविद्यालय वापस लौट गए।

बोस का व्यक्तित्व जटिल था और उन्हें किसी खाँचे में फिट करना आसान नहीं है। एक विलक्षण गणितज्ञ की हैसियत से उन्होंने केवल 25 शोधपत्र लिखे। ज्ञान के व्यापक क्षेत्र पर उनकी पकड़ थी। उन्होंने रसायन विज्ञान, खनिज विज्ञान, जीव विज्ञान, मृदा विज्ञान, दर्शन शास्त्र, पुरातत्व विज्ञान, ललित कलाओं, साहित्य और भाषाओं जैसे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। उन्हें वाद्य संगीत का बहुत शौक था और वे इसराज नामक वाद्ययंत्र बजाने में कुशल थे। प्रसिद्ध चित्रकार जामिनी राय के साथ अक्सर वे भित्तिचित्रों पर चर्चा करते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक *विश्व*

परिचय बोस को समर्पित की थी। बांग्ला भाषा में विज्ञान के प्रचार-प्रसार में उनकी गहरी रुचि थी और उन्होंने बंगीय विज्ञान परिषद की स्थापना की प्रेरणा दी, जिसने बांग्ला भाषा में *ज्ञान और विज्ञान* नामक लोकप्रिय विज्ञान पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि उच्च कोटि की वैज्ञानिक सोच केवल मातृभाषा में ही सम्भव है। उन्हें नौकरशाही और फिजूल के तामझाम से सख्त नफरत थी। कोई भी, कभी भी बिना पूर्व सूचना दिए हुए उनसे मिल सकता था। वे अपने मित्रों से घण्टों बातें करते थे और उसे कभी भी समय की बरबादी नहीं मानते थे।

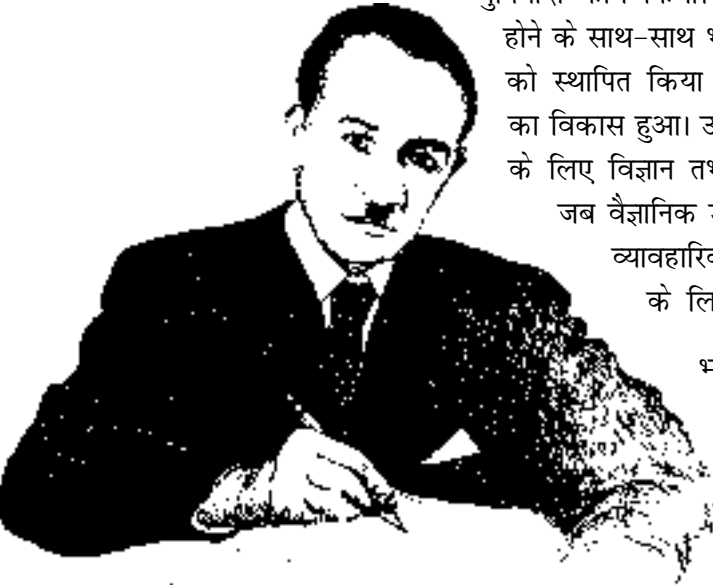




मैं डॉक्टर भटनागर के बारे में यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि अगर वे न होते तो हमें इतनी अधिक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ देखने को नहीं मिलतीं।

— जवाहरलाल नेहरू

शान्ति स्वरूप भटनागर ने होमी भाभा, महालनोबिस और विक्रम साराभाई के साथ मिलकर स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक अधोसंरचनाओं के निर्माण का बुनियादी काम किया। एक विलक्षण वैज्ञानिक होने के साथ-साथ भटनागर ने ऐसी संस्थाओं को स्थापित किया जिनसे भारत में विज्ञान का विकास हुआ। उन्होंने दिखाया कि समाज के लिए विज्ञान तभी सार्थक हो सकता है जब वैज्ञानिक उसका उपयोग लोगों की व्यावहारिक समस्याएँ हल करने के लिए करें।

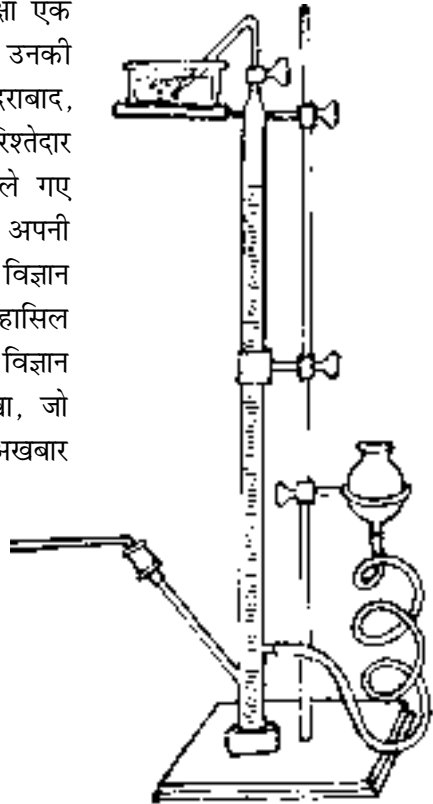


भटनागर का जन्म 21 फरवरी 1894 को भेड़ा नामक स्थान पर हुआ,

जो अब पाकिस्तान के शाहपुर ज़िले में स्थित है। उनके पिता प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री हासिल की थी तथा स्थानीय हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे। दुर्भाग्यवश, जब शान्ति स्वरूप केवल आठ माह के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। इससे उनके परिवार को घोर आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ा। शान्ति स्वरूप का लालन-पालन उनके नाना प्यारेलाल ने किया जो रुड़की के प्रसिद्ध इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़े थे और जाने-माने इंजीनियर थे। बचपन से ही शान्ति स्वरूप की विज्ञान में रुचि जगी। वे दिन भर यांत्रिक खिलौनों को जोड़ते-तोड़ते और अपने नाना के औज़ारों से खेलते। यहीं पर उनका परिचय उत्कृष्ट उर्दू शायरी और साहित्य से भी हुआ।

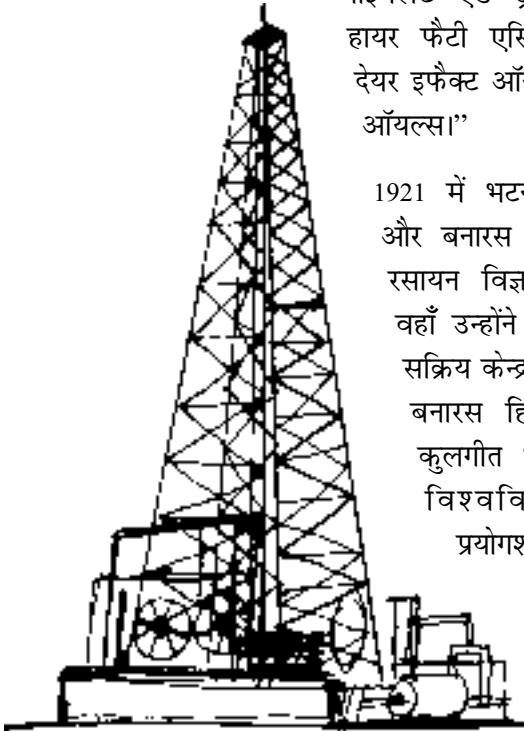
शान्ति स्वरूप की प्रारम्भिक शिक्षा एक निजी मकतब में हुई। 1907 तक उनकी पढ़ाई ए.वी. हाईस्कूल, सिकन्दराबाद, उत्तर प्रदेश में हुई। फिर एक रिश्तेदार की सिफारिश पर वे लाहौर चले गए और वहाँ दयाल सिंह हाईस्कूल में अपनी शिक्षा जारी रखी। यहाँ उर्दू और विज्ञान दोनों विषयों में उन्होंने श्रेष्ठता हासिल की। 17 साल की उम्र में उन्होंने विज्ञान पर अपना पहला शोधपत्र लिखा, जो इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले अखबार लीडर (Leader) में छपा। इसमें उन्होंने शीरे (गुड़ रस) और कार्बनयुक्त पदार्थ को दाब में गर्म कर बैटरियों में लगने वाले कार्बन छड़ (इलेक्ट्रोड) बनाने की वैकल्पिक विधि बताई थी।

1916 में शान्ति स्वरूप ने



फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज, लाहौर से बी.एससी. पूरी की। वहीं से 1919 में रसायन विज्ञान में एम.एससी. की परीक्षा पास की। ऐसा लगता है कि उस समय शिक्षा व्यवस्था अधिक लचीली थी। उस वक्त कोई भी स्नातक छात्र भौतिक विज्ञान छोड़कर रसायन विज्ञान ले सकता था। आजकल ऐसी कल्पना करना भी असम्भव है! उन्हें दयाल सिंह कॉलेज से वजीफा मिला, जिसकी सहायता से पढ़ने के लिए वे इंग्लैण्ड के रास्ते अमरीका गए। उस समय प्रथम विश्वयुद्ध का दौर था, इसलिए उन्हें अमरीका जाने के लिए जहाज़ मिलने में दिक्कत हुई। इस कारण उन्होंने इंग्लैण्ड में ही रहने का निश्चय किया। उन्होंने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में दाखिला लिया और वहाँ प्रसिद्ध भौतिक रसायनशास्त्री प्रोफेसर एफ.जी. डॉनान के साथ काम किया। 1921 में उनके शोधग्रन्थ पर उन्हें डी.एससी. की डिग्री मिली। उनके शोध का विषय था –

“ऑन सॉल्यूबिलिटी ऑफ बाइवैलेंट एंड ट्राइवैलेंट सॉल्ट्स ऑफ हायर फैटी एसिड्स इन ऑयल्स एंड देयर इफैक्ट ऑन द सरफेस टेंशन ऑफ ऑयल्स।”



1921 में भटनागर भारत वापस लौटे और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान के प्राध्यापक बने। वहाँ उन्होंने रसायन विज्ञान के एक सक्रिय केन्द्र की स्थापना की। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलगीत भी लिखा। 1924 में वे विश्वविद्यालय रासायनिक प्रयोगशाला के निदेशक के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर चले गए और वहाँ 1940 तक रहे। इन 16 सालों में उन्होंने

100 से अधिक शोधपत्र लिखे। मौलिक वैज्ञानिक अनुसन्धान का शायद यह उनका सबसे सक्रिय काल था। कलिलीय (Colloidal) और चुम्बकीय रसायन में योगदान के साथ-साथ उन्होंने कई औद्योगिक समस्याओं के हल भी खोजे। मिसाल के लिए, एटॉक ऑयल कम्पनी ने तेल की खोज के दौरान पाया कि उनके बरमे कीचड़ और नमकीन पानी में अटककर फँस जाते थे। भटनागर ने इस समस्या का एक सरल उपाय खोजा। उन्होंने गोंद का उपयोग करके मिट्टी का गाढ़ापन कम किया जिससे समस्या हल हो गई। इस व्यावहारिक अनुसन्धान से कम्पनी के मालिक इतने खुश हुए कि शोध और विकास के कार्य के लिए 1925 में उन्होंने भटनागर को डेढ़ लाख रुपए दिए। इस राशि से भटनागर ने पंजाब विश्वविद्यालय में पेट्रोलियम अनुसन्धान के लिए एक नया विभाग खोला। अगले दस वर्षों में भटनागर और उनके छात्रों ने कई रोज़मर्रा की समस्याओं पर शोध किया – मोम, मिट्टी के तेल से जलने वाली बाती की लौ की ऊँचाई बढ़ाना, लोहे को जंग लगने से बचाना आदि। इसके लिए उन्हें कई पेटेंट भी मिले। रॉयल्टी का पचास प्रतिशत भाग विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए खर्च किया जाता था। भटनागर ने बुनियादी शोध को दैनन्दिन पेश आने वाली समस्याओं के हल के साथ जोड़ा। ये दोनों काम दरअसल एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्होंने ज्ञान के समुचित उपयोग से सम्पत्ति का निर्माण किया। बौद्धिक कार्य के मूल्य को उन्होंने बहुत पहले ही पहचान लिया था।

1930 के दशक में भारत के प्राकृतिक संसाधनों तथा उद्योगों के विकास के लिए अनुसन्धान की प्रयोगशालाएँ नहीं थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध से ठीक पहले भारत सरकार ने वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान बोर्ड (Board of Scientific and Industrial Research) स्थापित किया। दिसम्बर 1939 में भटनागर को वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान पर भारत सरकार का सलाहकार नियुक्त किया गया। इस प्रकार 26 सितम्बर 1942 को स्थापित वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद (Council of Scientific and Industrial Research) के साथ उनके 15 सालों के साथ का सूत्रपात हुआ।

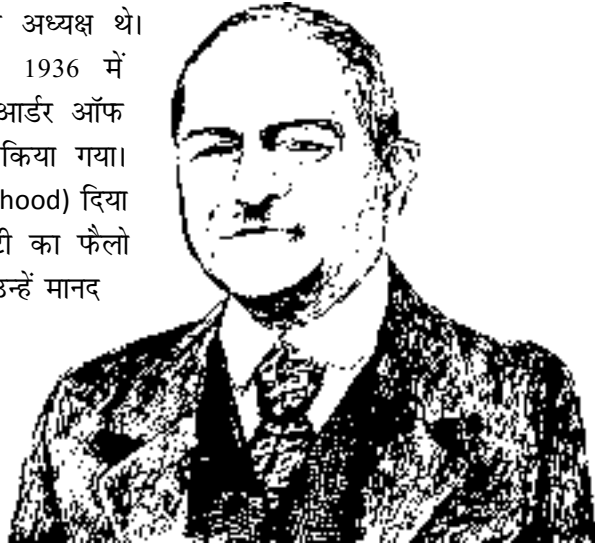


भटनागर ने वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के लिए एक स्पष्ट खाका तैयार किया। पुराने लोग अभी भी मुस्कुराते हुए इस किस्से को दोहराते हैं कि किस प्रकार भटनागर सुबह-सुबह टहलने के समय प्रधानमंत्री नेहरू से मिलते, उनसे एक नई प्रयोगशाला की स्थापना की अनुमति लेते और दफ्तर खुलने से

पहले उसके सारे कागजात तैयार कर लेते! यह उनकी दूरदर्शिता का परिणाम है कि भटनागर के देहान्त के समय देश में 12 राष्ट्रस्तरीय प्रयोगशालाएँ कार्यरत थीं। इनमें पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला और दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला भी शामिल थीं। भटनागर ने केरल के तटों पर बहुमूल्य मोनेज़ाइट (monazite) के समुचित दोहन के लिए इण्डियन रेअर-अर्थ्स लिमिटेड की स्थापना की। वे कई निजी तेल शोधन कम्पनियों स्थापित करवाने में भी सफल रहे। भटनागर कई उच्च पदों पर आसीन रहे। वे परमाणु ऊर्जा आयोग के सचिव थे, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के निदेशक थे और

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष थे। उन्हें अनेक सम्मान भी मिले। 1936 में उल्लेखनीय कार्य के लिए उन्हें आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर से सम्मानित किया गया। 1941 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) दिया गया और 1943 में रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो चुना गया। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधियाँ भी प्रदान कीं।

बचपन में भटनागर पर ब्राह्म-समाज का गहरा प्रभाव पड़ा था। अपनी पत्नी लाजवन्ती को वे बहुत चाहते थे। वे रूमानी प्रकृति के



इन्सान थे और सेवानिवृत्ति के बाद खेती करना चाहते थे। उनका सपना था कि दोपहर को खेत में उनकी पत्नी उनके लिए खाना और मटकी में छाछ लेकर आए!

1 जनवरी 1955 को दिल के दौरों से भटनागर का देहान्त हुआ। 60 वर्ष के व्यस्त जीवन में उन्होंने अनेक उपलब्धियाँ हासिल कीं। शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अमिट छाप छोड़ी। वे विज्ञान के उपयोग से देश की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में विश्वास रखते थे। एक दूरदर्शी दृष्टा के नाते उन्होंने स्वतंत्र भारत में पुख्ता वैज्ञानिक अधोसंरचना की आवश्यकता को समझा। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद का उनके द्वारा बोया पौधा धीरे-धीरे एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। आज वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद की 38 प्रयोगशालाओं में अन्तरिक्ष विज्ञान, जैव-प्रौद्योगिकी (biotechnology) तथा रसायन विज्ञान से लेकर तमाम अन्य अग्रणी क्षेत्रों में अनुसन्धान चल रहा है।



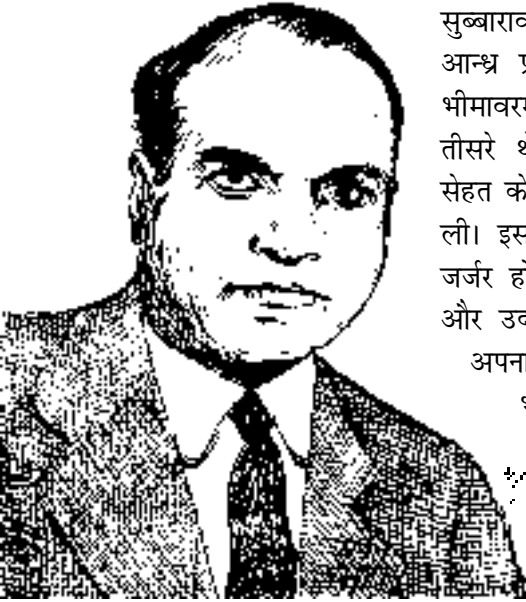
येलाप्रगदा सुब्बाराव

(1895 - 1948)

शायद आपने डॉक्टर येलाप्रगदा सुब्बाराव का नाम पहले कभी नहीं सुना हो। फिर भी, क्योंकि वे थे, इसलिए हो सकता है कि आप कुछ अधिक साल जी सकें।

— डोरॉन के. एट्रिम

न्यू यॉर्क हेरल्ड ट्रिब्यून (New York Herald Tribune) ने डॉ. येलाप्रगदा सुब्बाराव को “शताब्दी की विशिष्ट चिकित्सकीय बुद्धि” के रूप में वर्णित किया। सुब्बाराव ने कई जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजा और अपने शोधकार्य से पूरी दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों की जान बचाई।



सुब्बाराव का जन्म 12 जनवरी 1895 को आन्ध्र प्रदेश के पश्चिम गोदावरी ज़िले के भीमावरम गाँव में हुआ। सात भाई-बहनों में वे तीसरे थे। उनके पिता जगन्नाथम ने खराब सेहत के कारण समय से पहले सेवानिवृत्ति ले ली। इस कारण परिवार की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। स्कूल में सुब्बाराव खोए-खोए और उदासीन रहते। एक बार बनारस जाकर अपना भाग्य आजमाने के लिए वे घर से भाग गए। परन्तु उनकी दृढ़प्रतिज्ञा माँ

Dr. Yelapragada Subbarao

वेनकम्मा ने उन्हें रास्ते में ही पकड़ लिया और वापस स्कूल भेजा। अपने पति की मृत्यु के बाद सुब्बाराव की पढ़ाई जारी रखने के लिए वेनकम्मा ने अपना मंगलसूत्र बेच दिया।

प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास में पढ़ते समय सुब्बाराव ने अपना अधिकांश समय रामकृष्ण मिशन आश्रम में बिताया। उनमें वैराग्य की प्रबल प्रवृत्ति थी और वे संन्यास लेना चाहते थे। परन्तु उनकी माँ को यह बिलकुल पसन्द नहीं था। अन्त में सुब्बाराव ने मद्रास मेडिकल कॉलेज में दाखिला लिया ताकि चिकित्सक बनने के बाद वे मिशन के किसी अस्पताल में सेवा कर सकें। परन्तु उनका परिवार पढ़ाई का खर्च उठाने में असमर्थ था। इसका हल उन्होंने यँ निकाला कि शादी की और अपने ससुर से मदद के लिए गुहार की! सुब्बाराव की माँ को शादी का निर्णय एक अन्य कारण से अच्छा लगा। उन्हें लगा कि शादी के बाद धर्म के प्रति सुब्बाराव का 'पागलपन' कुछ कम हो जाएगा। इस प्रकार 10 मई 1919 को सुब्बाराव का विवाह उनसे 12 वर्ष छोटी शेषागिरि से सम्पन्न हुआ। परन्तु सुब्बाराव सारा समय काम में मस्त रहते थे। इसलिए शेषागिरि को उनका बहुत कम साथ मिलता था।

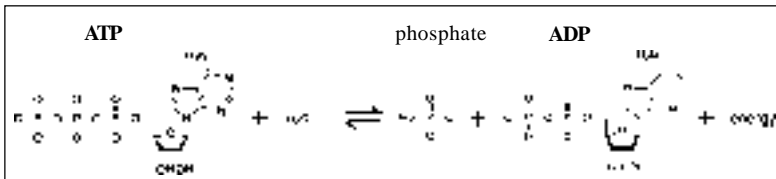
महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन से प्रेरित होकर सुब्बाराव ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया और खादी का कोट पहनने लगे। इससे उनके अँग्रेज़ प्राध्यापक बहुत नाराज़ हुए और इस वजह से सुब्बाराव को एम.बी. बी.एस. की डिग्री से वंचित रहना पड़ा। जब उन्हें निचले स्तर की डिग्री एल.एम.एस. प्रदान की गई तो सुब्बाराव ने रोष में आकर पश्चिमी उपचार पद्धति छोड़ दी और मद्रास आयुर्वेद कॉलेज में शरीर रचना शास्त्र के व्याख्याता बन गए।

अमरीका से आए एक चिकित्सक ने उन्हें उच्च शिक्षण के लिए अमरीका जाने की सलाह दी। एक दानी संस्था के अनुदान और ससुर की आर्थिक मदद से सुब्बाराव अमरीका के लिए रवाना हुए। वे अपनी किशोरवय पत्नी से तीन साल में स्वदेश वापस आने का वादा करके गए। परन्तु वे दुबारा कभी अपनी पत्नी का मुँह नहीं देख पाए। 26 अक्टूबर 1923 को सुब्बाराव बॉस्टन पहुँचे। उस वक्त उनकी जेब में मात्र 100 अमरीकी डॉलर थे। उनके

पास केवल एल.एम.एस. की डिग्री थी। इसलिए उनको न वजीफा और न ही कोई नौकरी मिली। शुरू में प्रोफेसर रिचर्ड स्ट्रॉंग उनकी फीस भरते थे और उन्हें जेबखर्च के लिए पैसे देते थे। खाली समय में पैसे कमाने के लिए सुब्बाराव अन्य छोटे-मोटे कामों के अलावा अस्पताल में रोगियों के मल-मूत्र के बर्तन भी साफ करते थे।

अन्ततः वे हार्वर्ड मेडिकल स्कूल से ट्रॉपिकल मेडिसिन (Harvard Medical School of Tropical Medicine) में डिप्लोमा पाने में सफल रहे और डॉक्टर सायरस फिस्क की जैवरसायन (biochemistry) प्रयोगशाला में नौकरी करने लगे। यहाँ उन्होंने रक्त और मूत्र में फॉस्फोरस की मात्रा मापने की प्रसिद्ध फिस्क-सुब्बाराव पद्धति का आविष्कार किया। यह अत्यधिक संवेदनशील तरीका आज सभी अस्पतालों में इस्तेमाल किया जाता है और जैवरसायन विज्ञान के सभी छात्रों को पढ़ाया जाता है। आजकल इस सशक्त पद्धति द्वारा गलग्रन्थि तथा वृक्क बालशोष की बीमारियों की जाँच भी की जाती है।

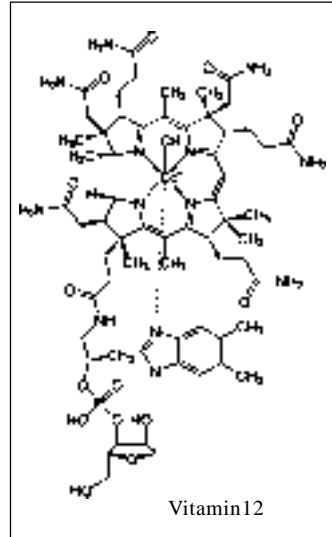
इस तरीके द्वारा सुब्बाराव ने एक स्थापित मान्यता को चुनौती दी। मान्यता यह थी कि ग्लाइकोजेन ही माँसपेशियों को सिकोड़ने के लिए लगने वाली ऊर्जा का स्रोत है। इस दावे के कारण 1922 में हिल और मेयरहौफ को चिकित्सा और शरीर-क्रिया विज्ञान का नोबल पुरस्कार मिला था। सुब्बाराव की खोज के अनुसार एडीनोसीन ट्राईफॉस्फेट (ए.टी.पी.) हरेक जैवरसायनिक प्रक्रिया को ऊर्जा प्रदान करता है जिसमें माँसपेशियों का सिकुड़ना भी शामिल है। इस कारण थकी हुई माँसपेशी की तुलना में आराम कर रही माँसपेशी में अधिक ए.टी.पी. होगी। यह खोज अप्रैल 1927 को साइंस (Science) नामक विज्ञान पत्रिका में छपी। इस शोधकार्य के लिए सुब्बाराव को पीएच.डी. की डिग्री मिली। इससे वैज्ञानिक जगत् में सुब्बाराव का सिक्का चमक उठा और लोग उनके काम को बहुत



आदर से देखने लगे। इस विलक्षण कार्य के बाद ही रॉकफेलर फाउण्डेशन ने उन्हें एक फैलोशिप प्रदान की।

इसके बाद सुब्बाराव ने स्थायी रक्तक्षीणता (pernicious anaemia) पर काम किया, जिससे काफी लोग प्रभावित होते हैं। उन्होंने सुअर के यकृत से विटामिन बी-12 निकाला जो अनीमिया के खिलाफ बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इस खोज से सारी दुनिया में विटामिनों को खोजने की होड़ जैसी लग गई और आने वाले सालों में विटामिनों के तमाम अन्य स्रोत खोजे गए।

सुब्बाराव को लगा कि विश्वविद्यालयों की तुलना में बड़ी दवा कम्पनियों में शोधकार्य की अधिक सुविधाएँ मिलने की सम्भावना है। इसलिए 1940 में उन्होंने विश्वविख्यात लेडरली लेबोरेटरीज (Lederle Laboratories) नामक कम्पनी में अनुसन्धान शुरू किया। यहाँ काफी जद्दोजेहद के बाद वे फोलिक अम्ल का संश्लेषण करने में सफल हुए। पिछले 50 सालों में विटामिन बी-12 के अलावा फोलिक अम्ल भी अनीमिया की रोकथाम में बहुत कारगर साबित हुआ है।



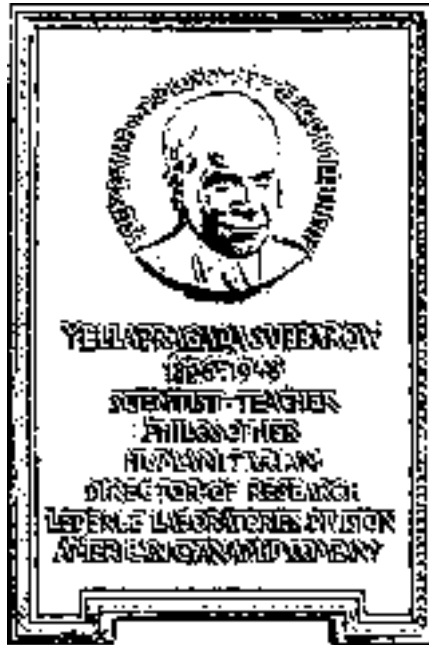
सुब्बाराव की अनुसन्धान टीम इन्सानों की तमाम बीमारियों का इलाज खोजने में तत्परता से जुटी थी। सुब्बाराव ने इस समूह का आगे बढ़कर नेतृत्व किया। एक चिकित्सक की हैसियत से वे वैज्ञानिकों को इन्सानी बीमारियों के उपचार खोजने के लिए प्रेरित करते और एक वैज्ञानिक की हैसियत से वे चिकित्सकों को रोगाणुओं के खात्मे के लिए दवाई खोजने में मदद करने के लिए प्रोत्साहित करते। सुब्बाराव एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक थे – वे रसायनशास्त्रियों के बीच रसायनशास्त्री और चिकित्सकों की संगत में चिकित्सक थे।

आखिरी दौर में वे एक ऐसी रामबाण दवा की खोज में थे जिससे सभी

प्रकार के बुखारों का इलाज हो सके। 1928 में अलेक्जेंडर फ्लेमिंग ने कीटाणुओं को मारने वाली पेनिसिलीन फफूँद की खोज की थी। इसी से प्रतिजैविक (antibiotics) के स्वर्ण युग का प्रारम्भ हुआ। सुब्बाराव ने तुरन्त इस औषधि की सम्भावनाओं को पहचाना और खुद प्रतिजैविकों पर अनुसन्धान शुरू कर दिया। इसके लिए उन्होंने एक वनस्पतिशास्त्री को दुनिया भर से लाए मिट्टी के नमूनों में से फफूँद की सही किस्में छाँटने के काम में लगाया। अन्त में वे फफूँद ए-377 को उगाने में सफल रहे। इस फफूँद की विशेषता थी कि वह बहुत-सी बीमारियों के घातक कीटाणुओं के लिए कोबरा साँप के जहर के समान थी, परन्तु मेज़बान प्राणियों के साथ बिल्ली के बच्चे जैसा दोस्ताना व्यवहार करती थी। इस शोधकार्य की परिणति टेट्रासाइक्लीन (tetracycline) में हुई। यह प्रतिजैविक दुनिया में सबसे अधिक इस्तेमाल होने वाली दवाइयों में से है।

सुब्बाराव लगातार अपने अनुसन्धान का दायरा बढ़ा रहे थे और अन्य बीमारियों का इलाज खोज रहे थे। अगले चरण में उन्होंने पोलियो और कैंसर पर शोध किया। उनके द्वारा विकसित एक दवा टियोरपटेरिन (teorpterin) रक्त कैंसर में उपयोगी सिद्ध हुई।

9 अगस्त 1948 में जब सुब्बाराव काम पर नहीं आए तो उनके साथियों को चिन्ता हुई। सुब्बाराव ने पहले कभी ऐसा नहीं किया था। घर खोलने पर सुब्बाराव को मृत पाया गया; उन्हें दिल का दौरा पड़ा था। तब उनकी आयु मात्र 53 साल थी। 1923 में भारत छोड़ने के बाद वे कभी अपने वतन वापस नहीं लौटे।



सुब्बाराव ने अपने वैज्ञानिक आविष्कारों को कभी नहीं बेचा और न उन्होंने अपनी दवाइयों पर कभी पेटेंट लिए। उन्होंने कभी भी पत्रकारों को साक्षात्कार नहीं दिए और सभी सम्मानों और पदकों को नकारा। सुब्बाराव की जन्म-शताब्दी 1995 में मनाई गई। उनके विलक्षण कार्य के लिए उन्हें भारत के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से सम्मानित करने की सिफारिश की गई। अमरीकी नागरिकता के लिए पात्रता होने के बावजूद वे सारी ज़िन्दगी भारतीय नागरिक बने रहे। और यद्यपि उन्होंने अधिकांश योगदान अमरीका में रहकर किया परन्तु वह सब उनकी भारतीय प्रतिभा और प्रेरणा के कारण ही सम्भव हो पाया। धन और प्रसिद्धि में उन्हें कोई रुचि नहीं थी। वे अपनी सारी ज़िन्दगी जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजते रहे और उससे समस्त मानवता का कल्याण हुआ।

